

चिन्तन-सृजन

त्रैमासिक

वर्ष 6 अंक 1

जुलाई-सितम्बर 2008

सम्पादकीय परामर्शदात्री समिति

लोकेश चन्द्र

यशदेव शल्य

जे.एन.राय

रमेशचन्द्र शाह

सम्पादक

बी. बी. कुमार

आस्था भारती

दिल्ली

वार्षिक मूल्य :

व्यक्तियों के लिए	60.00 रुपये
संस्थाओं और पुस्तकालयों के लिए	150.00 रुपये
विदेशों में	\$ 15

एक प्रति का मूल्य

व्यक्तियों के लिए	20.00 रुपये
संस्थाओं के लिए	40.00 रुपये
विदेशों में	\$ 4

विज्ञापन दरें :

बाहरी कवर	10,000.00 रुपये
अन्दर कवर	7,500.00 रुपये
अन्दर पूरा पृष्ठ	5,000.00 रुपये
अन्दर का आधा पृष्ठ	3000.00 रुपये

प्रकाशन के लिए भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसंधान परिषद द्वारा आंशिक आर्थिक सहायता प्राप्त

आस्था भारती

रजिस्टर्ड कार्यालय :

27/201 ईस्ट एंड अपार्टमेंट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110 096

कार्य-संचालन कार्यालय :

12/604 ईस्ट एंड अपार्टमेंट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110 096

से आस्था भारती के लिए डॉ. बी.बी. कुमार, सचिव द्वारा प्रकाशित तथा विकास कम्प्यूटर एण्ड प्रिण्टर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32 द्वारा मुद्रित।

फोन : 011-22712454

ई.मेल : asthabharati@yahoo.com, asthab@vsnl.net

वेब साइट : asthabharati.org

चिन्तन-सृजन में प्रकाशित सामग्री में दृष्टि, विचार और अभिमत लेखकों के हैं। सम्पादक की सहमति अनिवार्य नहीं है।

विषय-क्रम

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य	5
1. मंगोल और आचार्य रघुवीर लोकेश चन्द्र	8
2. स्वात्रंय की अभीप्सा और सृजन यशदेव शल्य	16
3. कोसी, जल-प्रलय और बिहार की त्रासदी ब्रज बिहारी कुमार	24
4. कोसी : परिचय एवं संदर्भ देवेन्द्र कुमार 'देवेश'	30
5. सामन्तवाद और साम्राज्यवाद के विरुद्ध सिक्किमी संघर्ष ए.सी. सिन्हा	43
6. वैश्वकृत समाज में अश्लीलत्व की नयी अवधारणाएँ पुष्पपाल सिंह	54
7. इतिहास और साहित्य: स्मृति और सत्य रमेश दवे	61
8. रवीन्द्रनाथ ठाकुर और हिन्दी में छायावादी आन्दोलन विमला उपाध्याय	70
9. स्त्रीवाद (Feminism) : साम्प्रतिक बहुआयामी निनाद पाण्डेय शशिभूषण 'शीतांशु'	79
10. राष्ट्रस्य चक्षु इतिहासमेतत् गुंजन अग्रवाल	104
11. पुस्तक-समीक्षा: सीता की खोज श्रीभगवान सिंह	118
पाठकीय प्रतिक्रिया	122

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य

पब्लिक सब जानती है!

जिस दिन दिल्ली पुलिस के कमाण्डो दल ने दिल्ली के जामिया इलाके में जेहादी आतंकवादियों के स्थान पर आक्रमण किया था, अंग्रेजी दैनिक *हिन्दुस्तान टाइम्स* में 'पब्लिक नोज इट आल' याने 'पब्लिक सब जानती है' शीर्षक से छोटी सा समाचार छपा था। मुठभेड़ के क्षेत्र में कुछेक बातें हो रही थी: 'दोनों तरफ से गोली नहीं चली थी' 'नकली मुठभेड़', 'दिल्ली पुलिस द्वारा आरोपित', इत्यादि। समाचार माध्यमों, वामपंथी रुझान के मानवाधिकारवादियों आदि के मुख से ऐसे ही विचार व्यक्त किए जा रहे थे। 'उसने अपने पैर में स्वयं गोली मारी होगी।' 'वे ऐसा वीरतापदक पाने के लिए प्रायः ही करते हैं।' 'अंसल प्लाजा दुहराया गया', 'सरकार का दुःशाहस पूर्ण कदम।'।

मानवाधिकारवादियों की गतिविधियाँ अचानक तेज हो गयी थीं। जामिया क्षेत्र के परिचितों के टेलिफोन लगातार खटखटाए जा रहे थे। इलेक्ट्रॉनिक समाचार माध्यम समय की नाजुकता तथा कड़े सम्पादकीय नयाचार की आवश्यकता को भूलकर लगातार सड़क पर खड़े अनजान लोगों की बातें, अफवाह तथा साम्प्रदायिक सौच वालों के वाक्य प्रसारित कर रहे थे। वे ऐसे प्रसारणों के दुष्प्रभाव से अनजान थे; वे सही स्रोतों तक पहुँचकर सही जानकारी लेने तथा लोगों तक पहुँचाने की आवश्यकता से जुड़े अपने कर्तव्य का पालन नहीं कर रहे थे। 'पब्लिक सब जानती है' की अवधारणा के आधार पर सड़क पर चलने वाले हर आदमीविशेषतः उनका जिन्हें टेलिविजन के पर्दे पर दिखने की तीव्र लालसा हो, जो अफवाह फैलानेवाले लोग हों, जिन्होंने पुलिस, सरकार, समाज आदि के प्रति गलत पूर्व धारणा बना रखी हो नहीं प्रसारित की जा सकती। उस दिन इलेक्ट्रॉनिक समाचार चैनल लगातार भय, आक्रोश एवं उन्माद बढ़ानेवाले प्रसारण कर रहे थे। बिना जाने कि उनके अनुत्तरदयित्वपूर्ण व्यवहार से देश तथा समाज को कितना नुकसान होगा। उस दिन मुझे लगा था कि इन्सपेक्टर शर्मा ने अपने बलिदान से पुलिस बलों को उनके विरुद्ध लगातार होनेवाले प्रदर्शनों, आदि से बचा लिया था। उनकी मृत्यु से लगे झटके के प्रभाव से प्रदर्शनों का सिलसिला तो नहीं चला, किन्तु आरोप लगाने से लोग कहाँ चुकनेवाले थे कि शर्मा पुलिसवालों की गोली से ही मरे।

इस देश में समाचार माध्यमों की सबसे बड़ी कमजोरी है कि राष्ट्र की समस्याएँ उनकी कमजोरी नहीं हैं। वे राष्ट्र-विरोधी ताकतों को बल प्रदान करते हैं, उनको स्थापित करते हैं, उनके विध्वंशक विचारों को जोर-शोर से फैलाते हैं। उनकी गलत

कार्य पद्धति सामाजिक सौहार्द बिगाड़ती है, इस देश को भीतर से कमजोर करती है। शायद इस देश के समाचार माध्यम यह मानकर चलते हैं कि उनके बेहद अनुत्तरदायित्वपूर्ण कार्यों से समाज नहीं टूटेगा, देश कमजोर नहीं होगा, जो गलत है। यह मानने के पर्याप्त कारण हैं कि इस देश को तोड़ने के लिए चल रहे षडयंत्र में समाचार-माध्यमों के एक वर्ग की सहभागिता है।

यहाँ एक अन्य बात का उल्लेख आवश्यक है। जब देश के सामने कठिन समस्या उपस्थित होती है; जब हमारे सामने गहन आत्म - विश्लेषण की आवश्यकता होती है तो हमारे समाचार माध्यम लोगों का ध्यान बँटाकर हास्यास्पद हल्की फुल्की बातें करना शुरू करते हैं, जैसा कि गृह-मंत्री शिवराज पाटिल के कपड़ों की आलमारी में ताकझाँक करना। ध्यातव्य है कि मोरारजी देशाई के शासन-काल के प्रारंभ में हमारे समाचार माध्यमों ने “शिबाम्बु” की चर्चा कर, ‘मूत्र-चिकित्सा’ का ज्ञान देकर देश को काफी उपकृत किया था।

इस देश में जेहादी रोज बम फोड़ रहे हैं। निर्दोष व्यक्ति मारे जा रहे हैं। आतंकवाद के विरुद्ध लड़ाई जीतना जरूरी है। किन्तु यह लड़ाई कठिन है। इसे कई मोर्चों पर लड़ना होगा। जब अबू बसर जैसा आतंकवादी पकड़ा जाता है तो उत्तर-प्रदेश के एक भूतपूर्व मुख्य मंत्री, एक संसद-सदस्य सहानुभूति जताने उसके घर जाते हैं। भारत के इस्लामी छात्र आन्दोलन सिमी को बचाने में लालू प्रसाद यादव, मुलायम सिंह यादव जैसे नेता लग जाते हैं; राम विलास पासवान जैसे नेता बांग्लादेशियों को भारतीय राष्ट्रीयता दिए जाने की वकालत करते हैं; जामिया मिल्लिया जैसे केन्द्रीय विश्वविद्यालय के कुलपति मुशिरूल हसन सरकारी पैसे से जेहादी आतंकवादियों को कानूनी-सहायता देने की बात करते हैं। ऐसे में समस्या की गंभीरता का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

देश में जब कभी कहीं भी आतंकवादी बारदात होती है तो पुलिस पर अत्यधिक दबाव पड़ता है। दूसरी तरफ उसके हाथ पाँव बाँध दिए जाते हैं। शक के आधार पर उसे छानबीन करने पर एक तरह की रोक लगती है। नारे लगते हैं, बाधाएँ पैदा की जाती हैं। फिर उसकी विश्वसनीयता पर प्रश्न-चिह्न लगाए जाते हैं। उस पर साम्प्रदायिकता का लेबल लगाया जाता है, जिसमें मुस्लिम वर्ग बड़ चढ़ कर भाग लेता है। इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि पुलिस बलों में साम्प्रदायिक तत्व हो सकते हैं। छानबीन के समय गलती भी हो सकती है। किन्तु सम्पूर्ण पुलिस बल पर लाँछन लगाना स्वतः कुत्सित साम्प्रदायिकता का परिचायक है। आवश्यक है कि पुलिस के कार्य पारदर्शी हों। लेकिन मुसलमान अपनी सीमाओं को लाँघकर जेहादियों का पक्षधर बनें यह प्रवृत्ति भी घातक है।

आतंकवाद की बात करते समय एम.जे. अकबर मुसलमानों को कांग्रेस से न्याय नहीं मिलने की बात करते हैं; मुसलमानों के असहाय निराशावादिता की भी।

ये बातें बिल्कुल गलत हैं। फिर कांग्रेस से ही मुसलमान उम्मीद क्यों करें? एम.जे. अकबर जैसे लोग इस बात को समझना नहीं चाहते कि मुसलमान अपनी साम्प्रदायिकता के चलते थोक वोटों की राजनीति करते रहे जिसके चलते न केवल हमारी राजनीति दूषित हुई बल्कि विकास भी बाधित हुआ; साम्प्रदायिकता भी बढ़ी। असगर अली इंजिनियर यह हास्यास्पद बात कह जाते हैं कि आतंक के लिए केवल एक समुदाय पर दोषारोपन मत करो। फिर आतंक और हिंसा का यह कह कर बचाव करते हैं कि बिना राजनीतिक असफलता और अन्याय के ऐसी हिंसा नहीं हो सकती। यह भाषा आतंकवाद को बल पहुँचाकर साम्प्रदायिक सौहार्द को नष्ट करनेवाली है। वास्तव में ऐसे लोग मुसलमानों के हित-चिन्तक नहीं हैं। यह दुखद बात है कि मुसलमान बुद्धिजीवी अपनी साम्प्रदायिक सोच को छिपाने में अपने को असमर्थ पा रहा है एवं तथाकथित अन्याय एवं निषेधात्मकता आदि का मिथक रच कर मुसलमानों को गुमराह कर रहा है। उसमें इतनी हिम्मत तथा इमानदारी नहीं कि तबलीगी जमात तथा बहावियों के द्वारा चलाए जा रहे कुचक्र की तरफ ऊँगली उठा सकें। मुसलमान नाराज होते हैं कि मुसलमानों को आतंकी कार्यों के लिए बदनाम किया जाता है लेकिन अबू बसर जैसे आतंकवादी के लिए वे रैली भी निकालते हैं। वैसे जेहादी बम विस्फोट होने पर लोग मुसलमानों पर नहीं, आतंकवादियों पर दोष लगाते हैं। अतः मुसलमान नेताओं को अपनी बात दूसरों के मुँह में नहीं डालनी चाहिए। फिर इससे बड़ी विडम्बनापूर्ण बात क्या हो सकती है कि पुलिस जब आतंकवादियों को पकड़ती है तो उस पर गलत आरोप लगाए जायँ और यदि वह आतंकवादी वारदात रोक न पाये या आतंकवादियों को पकड़ न पाए तब भी उसके विरुद्ध आक्रोश प्रदर्शित किया जाय, जैसा कि मालेगाँव की रिपोर्ट है। ऐसी परस्पर-विरोधी बातें नहीं होनी चाहिए। हमारा सौभाग्य है कि आज भी प्रायः सभी गाँवों एवं शहरों में हिन्दू-मुसलमान परस्पर सौहार्दपूर्ण वातावरण में रह रहे हैं। उनके बीच बंचित किए जाने एवं परस्पर अविश्वास पैदा करने की गतिविधि घातक है, जिसे चलने नहीं दिया जा सकता। आज दो बातों पर विशेष ध्यान दिया जाना अत्यन्त आवश्यक है: (क) इन दिनों लोगों में भीतरी क्रोध बढ़ता जा रहा है। आवश्यक है कि उसका अराजक हिंसात्मक विस्फोट न हो। समस्याओं का हल हमें शान्तिपूर्ण गणतांत्रिक तरीके से ही करना होगा, हिंसा द्वारा नहीं। (ख) सुनियोजित ढंग से हमारे बौद्धिकों का एक वर्ग हमारी व्यवस्था, राजनीति, न्याय व्यवस्था, पुलिस तंत्र आदि के प्रति अविश्वास का वातावरण बना रहा है। इनमें कमियाँ हैं, अच्छाइयाँ भी हैं। इसलिए इनके प्रति पूर्ण अविश्वास पैदा करने के षडयंत्र की सबल अस्वीकृति आवश्यक है। हम किसी भी कीमत पर ‘सीनिक’ समाज बनाने की, सीमाओं को लाँघ कर दोषदर्शिता की स्वीकृति नहीं देंगे।

ब्रज बिहारी कुमार

मंगोल और आचार्य रघुवीर

लोकेश चन्द्र*

अनु. बाबूराम वर्मा**

मेरे पिताश्री की मंगोल जनों की अनेक शताब्दियों और उनके कितने ही राज्यों की यात्राएँ बड़ी लम्बी और कष्टकर रही हैं जिनमें उनकी अस्मिता के सपने अचेतन में गहरे स्पन्दित जीवन की सम्पन्नता, साम्राज्यवादी दासता से मुक्त हुए भविष्य की कल्पनादृष्टि और एक पुनर्जागरण सभी तो आते-जाते रहे हैं, जहाँ विज्ञान मूल्यों से समन्वित है और सभी कुछ पराधर्मग्रन्थ पारगामिता में प्रतिष्ठित है।

पिताश्री की माता उनके बचपन के दो वसन्त देख पाने से पूर्व ही उन्हें छोड़ स्वर्ग सिंघार गई थीं। जब वे जनवादी मंगोल गणराज्य में 1955 की शीत ऋतु में मंगोल बौद्ध ग्रंथों के अणुचित्र प्राप्त करने गए तो 1956 के नववर्षप्रभात की आरम्भिक घड़ियों में उलन बातोर के, मोटे पर्दे चढ़ाए होटल कक्ष में उनका बिखरा चिन्तन यों मुखरित हुआ था:

बिछौना ठण्डा है

हाथ-पैर भी उतने ही ठण्डे बने

हृदय माँ की गोद के लिए लालायित

लोरियाँ नहीं, न ही दुलराते हाथ यहाँ

न कोई पालना, जो मुझे झुलाए।

माँ के अभाव की क्षतिपूर्ति हुई उनकी किशोर वयस में भारत माता की 'वन्दे मातरम्' की पुकार में; यह था भारत के स्वतन्त्रता संघर्ष का महान गीत। वन्दे मातरम् का ही प्रतिशब्द है प्राचीन रूसी जयघोष, *जिव्योत रोदिना मात*, जिसने स्तालिन के शक्तिशाली 'एकत्र हो जाओ' आह्वान बनकर स्लावी चेतना को गहराइयों से निकाल जगा दिया और हिटलर की फासिस्टवादी आक्रमणकारी सेनाओं को हराने का नवजीवन भर दिया। इसी जयघोष ने द्वितीय विश्व महायुद्ध की धारा पलट दी और

* प्रकाण्ड विद्वान, चिंतक, पूर्व सांसद (राज्य सभा)

** उत्तरगिरि, 67, बल्लूपुर, देहरादून

अन्ततः फासिस्ट सेनाओं की करारी हार हुई। इसी तरह वन्दे मातरम् भी एक भारी जलती ज्वाला और प्रचण्ड ताण्डव ही था जिसने ब्रिटिश साम्राज्य की नींव तक झकझोर डाली, उस साम्राज्य की जिसमें सूर्य कभी अस्त ही नहीं होता था। साम्राज्यवाद के विरोध को समर्पित होने पर भी प्रोफेसर रघुवीर भारत और अन्य एशियाई देशों की कला, इतिहास, दर्शन, साहित्य और अन्य क्षेत्रों के विविध पक्षों को समझने में लगे योरोपीय विद्वानों के गहन ज्ञान और उनकी समर्पित निष्ठा के प्रशंसक थे। अपने युग के भारत की बौद्धिक नियति और राजनैतिक उथल-पुथल तथा अराजकता को भलीभाँति जानने के लिए वे ब्रितानी सिंह की माँद लन्दन में ही जाकर वहाँ का जीवन अच्छी तरह से देखना चाहते थे। उन्होंने अपने देश और योरोपीय देशों की भाषाओं के समान स्रोत के अभिज्ञान के लिए लन्दन विश्वविद्यालय के प्राच्य अध्ययन संस्थान (स्कूल ऑफ ओरियण्टल स्टडीज़) में जाकर ऐतिहासिक भाषाविज्ञान का अध्ययन किया ताकि वे भाषा के इस समान स्रोत में छिपे किसी रचनात्मक सूत्र की खोज कर सकें। उन्होंने पश्चिम के धार्मिक मनसू की भाषा ग्रीक (यवनानी), लिथुआनियन और संस्कृत से इनकी आश्चर्यजनक निकटता; पुरानी चर्च स्तोवनी, जिसमें संस्कृत की विभक्तियाँ जीवन्त बनी हुई थी, आदि आदि का अध्ययन किया। संस्कृत की नितान्त नई व्यवस्था की झलक उन्होंने इसमें पाई। उनके लिए यह समय से दूर पड़ गई वास्तविकता का अन्तर्दर्शन था। उन्हें जापानी-भाषा में मिलते चीनी भावचित्रों से गहरा प्यार हो गया और चेम्बरलेन के साथ रह कर उन्होंने जापानी का अध्ययन किया। पी-एच. डी. के उनके निदेशक प्रो. आर. एल. टर्नर थे। प्रो. टर्नर मेरे पिताश्री की रुचियों की विशिष्टता देख अभिभूत हो उठे। विभिन्न सभ्यताओं का श्वास-प्रश्वास जो भाषाओं में प्रतिबिम्बित था, और अनन्त में चल रहे मानवी प्रयास और मानवी जीवन में प्रवाहित हो रही अनन्तता, यही प्रो. रघुवीर का असाधारण अन्तर्देश था। उन्होंने अथर्ववेद के शब्दों में उसे इस प्रकार अभिव्यक्त किया। "निस्सीम महासागर और मैं।" प्रो. टर्नर उस आयोग के सदस्य थे जो ब्रिटिश साम्राज्य की सबसे अधिक लुभावनी राजसेवा, इम्पीरियल सिविल सर्विस, के महाप्रभुओं का चयन किया करता था। उन्होंने यह सम्मानित सेवा मेरे पिताजी को देने का प्रस्ताव किया ताकि अपनी आश्चर्यजनक मेधा और अनथक समर्पण से वे भारत को सम्पन्न बनाएँ। अन्य कोई भारतीय उनकी जगह होता तो प्रस्ताव को तत्काल अपनी मुट्ठी में कर लेता परन्तु प्रो. रघुवीर क्रान्ति के, वन्दे मातरम् के पुत्र थे उन्होंने विनम्रतापूर्वक उत्तर दिया, "मैं साम्राज्य की सेवा करना नहीं, अपने देश की सेवा करना चाहता हूँ।" प्रो. टर्नर ने उनमें एक महान भारतीय के दर्शन किए और अपने अन्तिम दिनों तक भारत के प्रति अडिग निष्ठा बनाए रखने और अमूर्त की जगह वास्तविकताएँ प्रतिस्थापित करने के सतत प्रयास में उन्हें प्रोत्साहित करते रहे। प्रो. टर्नर से मिले इस प्रस्ताव के उपरान्त लन्दन में

अपने कमरे की नीरवता और एकान्त में उन्होंने अपनी कल्पना में भविष्य के भारत का वह सपना देखा जो ऊर्जा, क्रियाशीलता और रूपान्तरण कर डालने में सजीवता से लगा हुआ था। समय के मूर्तिमन्त मौन ने उनके कल्पनाजनित आदर्श रूपों को प्रतिभासित करके रख दिया। आयरदेश का राष्ट्रवाद उसके महानतम कवि यीट्स की वाणी में प्रतिबिंबित था। कवि के शब्दों ने उन्हें एक नई खोज ही हाथों में थमा दी, “राष्ट्रों, संस्कृतियों और विचाराधाओं के भी दैत्य हुआ करते हैं जो मानवों को अतिप्राकृत या दैवी ऊर्जा प्रदान कर उनके जीवन और भाग्यों को गतिमान बना डालते हैं।” मेरे पिताजी ने अपने से प्रश्न किया “क्या किसी एशियाई जन ने योरोप पर कभी शासन किया है?” और उनकी आँखों के सामने हूणों के मंगोल कबीलों का साम्राज्य आ खड़ा हुआ जिन्होंने 370 से 455 तक योरोप पर शासन किया था। उन्होंने पशुपालक अलानियों को रौंद डाला था जो वोल्गा और डॉन के मध्यवर्ती पड़ते मैदानों पर अपना अधिकार जमाए हुए थे। आस्ट्रोगौथों का साम्राज्य पददलित कर दिया था जिनके वृद्ध गौथ सम्राट एर्मानारिक ने आत्महत्या कर ली थी, विजी गौथों को पराजित कर डान्यूब तक पहुँच गए थे। उन्होंने योरोप भर में अभूतपूर्व आतंक फैला दिया था। एटिला को 443 में 4000 पौंड स्वर्ण खिराज में मिला जिसे बाद में 2100 पौंड और बढ़ाकर वार्षिक बना दिया गया। संपत्ति के आगमन ने उनका चरित्र परिवर्तित कर दिया और उसी से उनका पतन हुआ। छठी शताब्दी के मध्य तक वे अधिकार में बने रहे। पुनः मेरे पिता प्रो. रघुवीर ने ‘सुनहरे गिरोह’ का अपनी कल्पना में दर्शन किया जिसने सम्पूर्ण रूस पर (जिसमें उक्रेन और बेलोरशिया शामिल थे) तीन शताब्दियों (1223-1502) तक राज्य किया था। यह अवधि भारत पर ब्रिटिश शासन बना रहने से भी कहीं ज्यादा लम्बी थी। चक्रवर्ती छिगिस ख़ाँ के पौत्र ने मंगोल साम्राज्य की पश्चिमी सीमाएँ यूराल से कार्यथियोनों तक बढ़ा दी थीं जिसमें रूस के योरोपीय भाग का अधिकांश क्षेत्र आ जाता है। और इस तरह ‘सुनहरे गिरोह’ का साम्राज्य बनकर खड़ा हुआ। मस्कोवी रूस इस पीछे खिसकते जाते मंगोल ज्वार के कारण 16वीं शती में जाकर कहीं उदित हो पाया।

प्रो. रघुवीर को मंगोलों के साम्राज्य में एक नया मानसिक महाद्वीप मिला। वे उनके सम्प्रदायों, उनकी संस्कृति, भाषा और साहित्य, उनकी शताब्दियों तथा उनके छिन्न-भिन्न हुए संसार, और उनका सारतत्त्व जो मंगोल थे और फिर से भी हो सकते थे, जानने को व्यग्र हो उठे। वे मंगोल जीवन के हृदय का अन्तर्दर्शन करना चाहते थे उनके वाणों की पावन अन्तर्वस्तु, बर्फीली हवाओं की हहराहट, उनकी गर्जना, चौकड़ियाँ भरते उनके घोड़ों, उस नील नभ को, जिसकी छाया तले अनन्त सौन्दर्य की छाया लगी थी, उनकी दैवी रैगरी जानना चाहते थे। 1928 में लूजक एण्ड कम्पनी से वे मंगोल का जर्मन व्याकरण खरीद लाए और उसका अध्ययन आरम्भ कर दिया। यह नितान्त नई शब्दावली थी जो अल्ताई भाषा परिवार से सम्बन्धित थी। अल्लन

का अर्थ होता है स्वर्ण और मेरे पिता ने खोज की उस मंगोलिया की आध्यात्मिक और सांस्कृतिक धरोहर, स्वर्णमयी प्रकाश अर्थात् अल्लनगोरेल या स्वर्णप्रभास सूत्र अथवा वज्रच्छोदन की। उन्होंने शेम्फेल गुंशी लिखित बौद्ध धर्म का इतिहास पढ़ा जिसका जर्मन में अनुवाद ‘ग्रेशिख्टे डेस बुद्धिस्मस इन डेर मंगोलेन’ शीर्षक से ग्योर्ग हुट ने 1896 में किया था। पंचतन्त्र और बेताल पंचविंशति के साथ-साथ भोज, विक्रमादित्य और कृष्ण की कथाओं के तीन ग्रन्थ एक पावन रूप में सम्पन्न थे जो समय के ताने-बाने से निकल ऊपर उभर रही थी। प्रो. रघुवीर के लिए भारतीय और मंगोल धर्म में परस्पर भाई-बहन (या बन्धु) ही थे। मंगोलों का बर्बर भयानक लोक प्रचलित रूप उनके मानस में पूरी तरह से बदल गया था। विगत तेरह शताब्दियों में, उनकी साहित्यिक क्रियाशीलता की विशालता से परिवर्तित होकर मंगोल व्यक्तित्व उनके विचारों में नए पल्लवों और शाखाओं से भर उठा था। आगे आनेवाले वर्षों में मंगोल इतिहास और, संस्कृति सम्बन्धी उनके विचारों को जानकर पं. जवाहरलाल नेहरू के मंगोल सम्बन्धी विचारों पर गहरा प्रभाव पड़ा जिन्होंने संयुक्त राष्ट्र संघ में मंगोलियों को प्रवेश दिये जाने के लिए पुरजोर आग्रह वहाँ किया।

हेरोडोटस का ‘इतिहास’ बताता है कि स्कुथ (अंग्रेजी में स्कूथियन या सिथियन) में स्कू-शक और उथ बहुवचन वाची प्रत्यय है। बहुवचन वाची उन्हें स्पष्टतः मंगोल बता देता है। यह उथ प्रत्यय शास्त्रीय मंगोल में उद् (एनेडकेग-बिचिग-उद्, मंगोल कान-जुद् की भारतीय पुस्तक) है। हेरोडोटस 485-425 ई. पू. में वर्तमान था। उसने स्कूथियन राज्य का उल्लेख किया है, जिसमें उस समय के योरोप के दक्षिणपूर्वी भाग सम्मिलित थे। हेरोडोटस का विश्वास है कि स्कूथियन एशियाई मूल के थे। थुकिडाइडस 2.95 (लगभग 462-393 ई. पू.) उन्हें, यदि वे किसी समान उद्देश्य के लिए एकजुट हो जाएँ, अप्रतिरोध्य मानता है। स्कूथियन धनुर्धर एथेंस में पुलिस के रूप में भरती किये जाते थे। इस तरह योरोप में शासक वर्ग के रूप में मंगोलों की उपस्थिति पाँचवीं शदी ईसापूर्व तक मिल जाती है।

प्रथम शताब्दि ई. पू. के शक शासकों की मुद्राएँ मथुरा (भारत) में मिली हैं। एक मुद्रा पर कागान हगामाश नाम दिया हुआ है। हगा मंगोल शब्द कागा है जिसका अर्थ “चौतरफा आक्रमण करना या घेरा डालना” होता है। और *माशी का उपयोग* ‘प्र, नि, अति’ उपसर्गों का अनुवाद करने को किया गया है। इस प्रकार *हगामाश* संस्कृत *प्रवीर* के समतुल्य है जो महाभारत में पुरु के पुत्र का नाम है। मंगोल शब्द *कागा* का यह प्राचीनतम तिथ्यांकित उल्लेख है। अतः भारत ने मंगोल इतिहास के एक महत्त्वपूर्ण शब्द को सुरक्षित रखा है।

1936 में जापान सरकार ने दो विद्यार्थी प्रो. रघुवीर जी से संस्कृत का अध्ययन करने के लिए भेजे। इनमें से एक अपने साथ मंगोलिया में संस्कृत मन्त्रों को लिखने और उच्चरित करने के लिए व्यवहृत 1662 ई. का प्राचीन काष्ठचित्र लाया था।

इसका शीर्षक था *ए गोसिग किगेद गेइगुलूगर्च ऊसुग उओल ओरूसिबा* अर्थात् इसमें संस्कृत के स्वर और व्यंजनाक्षर दिए हुए हैं। मंगोल विद्वान गोम्बोजब की भूमिका में संस्कृत ध्वनिशास्त्र का ब्योरा दिया हुआ है। मंगोल लोग योरोपियनों से शताब्दियों पूर्व पाणिनि की परम्पराओं का अध्ययन कर रहे थे। प्रो. रघुवीर को इस बात का गर्व था कि भारत में मंगोल का प्रथम काष्ठचित्र (जायलोग्राफ) उन्हीं के पास है और उन्होंने उसका अध्ययन किया है। उन्होंने यह बात 1937 में महात्मा गाँधी के वर्धा आश्रम में हुई भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की एक बैठक में पं. जवाहरलाल नेहरू को बताई थी। नेहरूजी को यह भी बताया गया कि चोस-किय-होड-जेर का लिखा *जीरुकेन-उ-तोला* प्राचीनतम मंगोल व्याकरण है जिसे पाणिनी से प्रेरित हो युआन् सम्राट खेसान कुलुघ के राज्यकाल में 1308-11 में लिखा गया। मंगोलों ने संस्कृत व्याकरण प्रणाली का अध्ययन योरोपियनों से पाँच शताब्दी पूर्व ही कर लिया था। पं. नेहरू यह जानकर चकित हो गए कि मंगोल विद्वानों ने योरोपियनों से शताब्दियों पहले पाणिनि का अध्ययन किया था। वे कुछ क्षण सोचते रहे, फिर बोले, “इतिहास का अपना अध्ययन हमें सामाजिक, आध्यात्मिक और साहित्यिक विकास के बृहत्तर सन्दर्भों में करना होगा।” प्रो. रघुवीर ने नेहरूजी को मंगोलों का एक नया रूप प्रदान किया था। मंगोल महान विजेता तो थे ही परन्तु वे संस्कारों और विद्वत्ता की उन ऊँचाइयों तक भी पहुँच चुके थे जो उनके समय से कहीं बढ़चढ़ कर आगे थी। जब संयुक्त राष्ट्र संघ की दसवीं महासभा के सामने मंगोलिया को प्रवेश देने का प्रश्न आया तो उसमें भारत के स्थायी प्रतिनिधि कृष्ण मेनन ने कहा, “मंगोलिया की स्थापना न तो कल हुई और न आज ही बल्कि यह अनेक शताब्दियों से स्वतन्त्र राष्ट्र बना, चला आ रहा है। इसलिए अन्य देशों की तरह मंगोल जनवादी गणराज्य को भी संयुक्त राष्ट्रसंघ का सदस्य बनने का पूरा-पूरा अधिकार है।”

प्रधानमंत्री तेनदेनबल ने प्रो. रघुवीर को राजा भोज की मंगोल कथाएँ भेंट की थीं जिन्हें मंगोल *अर्जी बुर्जी कान* कहते हैं। बत्तीस काष्ठ पुतलियों द्वारा कही गई कहानियों की तीन पुस्तकों में से एक यह भी है, जिन्हें राजा भोज, विक्रमादित्य और कृष्ण के इर्द-गिर्द बुनकर रचा गया है। प्रो. रघुवीर ने इसे भारत गणराज्य के प्रथम राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद को दिखाया। वे *अर्जी बुर्जी कान* शब्द सुनकर ही हर्षित हो उठे। मंगोलों ने उच्चारण का आन्तरिक सौन्दर्य उसमें भर दिया था जो कहानियों को उनसे एकरूप बना रहा था। शब्दों का काव्य एकात्मता की गहराइयों और उनकी काव्यगत अपूर्णताओं में छिपा रहता है जो उनका अपनापन ही बन जाता है। उन्होंने प्रो. रघुवीर से आग्रह किया कि वे इन कहानियों को अवश्य अनूदित करें। प्रो. रघुवीर ने उनका मंगोल पाठ, देवनागरी में लिप्यन्तरित किया, शब्द प्रति शब्द करके उनका अर्थ दिया और कहानियों का धारा प्रवाह रूपान्तर भी प्रस्तुत किया। राष्ट्रपति राजेन्द्र प्रसाद ने कहा कि राजा भोज की ये कथाएँ मंगोलिया के साथ हमारे सम्बन्धों को

गहराई देती हैं। प्रो. रघुवीर द्वारा शक्ति के गलियारों में सर्जित किया मंगोलों का शक्तिशाली सांस्कृतिक रूप भारत और मंगोल देश के आध्यात्मिक भाईचारे की अन्तर्निहित व्यवस्था युगों पुराने स्मृतिगत अपनत्व और शताब्दियों के वस्त्रों में लिपटी एक सरसराहट ही थी। कुब्लई ख़ाँ पर लिखित कोलरिज की एक कविता में कथित है

उसने उपभोग किया था मधुकणों का
और साथ में स्वर्ग का दूध पिया था।

प्रो. रिनछेन 1957 के दिसम्बर मास में प्रो. रघुवीर के निमंत्रण पर चार सप्ताहों के लिए भारत आए। उन्होंने मंगोलों पर किए जा रहे भयंकर अत्याचारों, युगों पुरानी संस्कृति के महासंहार, अपनी राष्ट्रलिपि की जगह सिरिल्लिक लिपि थोपी जाने, हजारों भिक्षुओं के गोलियों से भून दिए जाने, लगभग आठ हजार मठों को भूमिसात ध्वस्त कर दिए जाने की दारुण कथाएँ उन्हें बताईं। प्रो. रघुवीर ने नेहरूजी से उनके साक्षात्कार की व्यवस्था की। प्रो. रिनछेन की सौम्य प्रारूपिक मंगोल आकृति ने नेहरूजी को मोह लिया। प्रो. रिनछेन ने उन्हें कला और साहित्य के विनाश, बौद्धिकों और संस्कृति-पुरुषों की हत्याओं, चीन और सोवियत संघर्ष आदि आदि का पीड़ाजनक वृत्तान्त सुनाया। रिनछेन अँग्रेजी में बता रहे थे पर बीच-बीच में आवेश में फ्रेंच पर आ जाते और जब वे विचारधारा में जार (Czar) बने लोगों के अमानवी अत्याचारों की बातें बताने लगे तो वे जर्मन पर आ गए। प्रो. रघुवीर उनकी फ्रेंच और जर्मन वार्ताओं को साथ-साथ समझाते जा रहे थे। रिनछेन और रघुवीर की बहुभाषा प्रतिभा ने नेहरूजी पर गहरा प्रभाव डाला और दो महाशक्तियों के बीच में स्थानवत् फँसे मंगोलों की राजनैतिक भूमिका को तीक्ष्णता प्रदान की। प्रो. रघुवीर अपने हाथों में जाली में लपेटा मेघदूत का मंगोल अनुवाद लिए हुए थे। पं. नेहरू को पूरे समय उत्सुकता रही कि इसमें क्या बँधा हुआ है। एक घण्टे तक चली वार्ता के उपरान्त जब वह समाप्त होने को आई तो प्रो. रघुवीर ने उसके लम्बे पत्रक उन्हें दिखाए और नेहरूजी को बताया कि कालिदास के मेघदूत का अनुवाद मंगोलजन योरोपियनों से काफी पहले अपनी भाषा में कर चुके थे। नेहरू आश्चर्य चकित हुए खड़े थे। रिनछेन ने उसमें जोड़ा “मेघदूत हमारा आर्ष गीतकाव्य हमारे साहित्य की मुक्तामणि है।” मंगोल निरन्तर नेहरू के मानस में एक नया रूप और एक नया अर्थ बनाते जा रहे थे, ऐसे जन की, जिन्होंने विश्व व्यवस्था में सर्वाधिक उत्कृष्टता से भागीदारी की थी। उनका इतिहास चक्रवर्ती छिंगिस ख़ाँ के विश्व के राज्यों को जीतने के अतिरिक्त मूल्यों के दिव्य प्रकाश में भी विद्यमान था। पर्याप्त चिन्तन और सोच-विचार के बाद नेहरूजी ने कहा, “मंगोलिया से हमारे विशेष सम्बन्ध हैं।” कालिदास के मंगोल अनुवाद ने उनमें आश्चर्य और मंगोलों के प्रति एक नए आदर के तार झंकृत कर दिए थे। और इन विस्तृत क्षेत्रों को और पक्का बना दिया था। इसी आन्तरिक

परिदृश्य में संयुक्त राष्ट्र की पंद्रहवीं महासभा के अधिवेशन में मंगोलिया को प्रवेश दिलाने के लिए नेहरूजी ने आवेशपूर्वक यह अनुरोध किया, “यदि संयुक्त राष्ट्र संघ में इतने अधिक राष्ट्र लिए जा चुके हैं तो मंगोलियों को उससे बाहर क्यों रखा जाना चाहिए? उसने क्या अपराध किया है? चार्टर में बताई उसने कौन-सी गलती की है? मंगोलिया के लोग शान्तिप्रेमी भलेमानुष डटकर प्रगति के लिए मेहनत कर रहे लोग हैं और सिद्धान्तों की दृष्टि से यह बिल्कुल गलत लगता है कि उन्हें इस महान संगठन में आने से वंचित रखा जाए।”

प्रो. रघुवीर ने मंगोल कान-जुर के 108 ग्रन्थ प्रकाशित करने का स्वप्न सँजोया था जो विगत शताब्दियों में भारत और मंगोलियों के मध्य संस्कृतियों के पारस्परिक प्रवाह के प्रतीक थे जिनमें 1161 संस्कृत ग्रन्थों के मंगोल रूपान्तर सम्मिलित थे, जिनमें से अधिकांश ग्रन्थ भारत में विनष्ट हो चुके हैं। दुर्भाग्य से 1963 में हुई कार दुर्घटना में उनका जीवन समय पूर्व ही समाप्त हो गया और एक दशक उपरान्त 1975 में निरन्तर धैर्यपूर्वक लगे रहने के उपरान्त इस विराट ग्रन्थ समूह (1,00,000 पृष्ठ), मंगोल कान-जुर, को प्रकाश में लाने का उनका स्वप्न साकार करने का कार्य आरम्भ कर पाया हूँ ताकि विद्वत् जगत को मंगोलिया की ऐतिहासिक धरोहर का अनुपम अवदान उपलब्ध हो सके।

मंगोल कान-जुर का विकास होना युआन वंश से आरम्भ हुआ जब युआन सम्राट खैसान कुलुघ के शासनकाल (1508-11) में चोस-क्यि-होड-जेर ने बौद्ध सूत्रों का मंगोल भाषा में अनुवाद कराना आरम्भ किया। त्युमेड के अल्लन खाँ के शासन काल (1507-1582?) में कान-जुर का अधिकांश अनूदित किया गया।

1628-29 में लिंगडन खाँ (1606-1634) ने 113 ग्रन्थों में समाविष्ट स्वर्ण और रजत (मसि) में लिखा कमल सूत्र कान-जुर (बदम-अल्लन-गंजूर) लिखा जाना आरंभ कराया। सम्राट काङ्शी के आदेशों पर मंगोल कान-जुर का लाल संस्करण, 1767-20, में काष्ठचित्रित किया गया। यह महान मंगोल जनों की साहित्यिक सम्पदा का प्रतिनिधि और उसके साथ-साथ शताब्दियों में फैली उनकी महाकाव्यमयी विजयों सहित विस्तृत आध्यात्मिकता के प्रति प्रो. रघुवीर के समादर का भी स्मारक है।

मंगोल कहते हैं कि आत्मा की जल मिलने वाली जगहों की ओर जाने की प्रवृत्ति होती है। प्रो. रघुवीर मंगोलिया के निस्सीम वनों, उनमें अनिवार्यतः जगह-जगह मिलती छोटी-छोटी झीलों और वहाँ की घास भूमियों के विस्तृत नीरव एकान्त से भी कम अभिभूत नहीं थे। ये तीनों घटकविस्तार, वन और जलमंगोल भू-दृश्य के कल्पना लोक हैं। मंगोलिया के प्रेम में पड़कर यह भूमि धीरे-धीरे वर्धमानशा ही बन जाती है एक सौम्य कठिनाई से दिखती अनुभूति। इसका सौन्दर्य ऐसा नहीं होता जो आँखों और अन्य इन्द्रियों को एकदम अभिभूत कर डाले। आत्मा पर इसका सूक्ष्म

आक्रमण धीरे-धीरे होता है जो सभी सच्ची सुन्दरताओं की विशेषता हुआ करती है। इससे हृदय और आत्मा प्रज्वलित हो उठते हैं। विछोह होने पर उसकी स्मृतियाँ और अनुभव एक कोमल और स्थायी पीड़ा से अनुरंजित बने रहते हैं।

प्रो. रघुवीर ने मंगोलों की बहुदिशागामी प्रतिभा को बताया जिन्होंने अपने चार ऐतिहासिक आविष्कारों से नई दुनिया के विकास में सहायता पहुँचाई। उन्होंने हमें बारूद दिया जिसने युद्धकला को आधुनिक बनाया और उनकी विजयों ने पूर्व और पश्चिम को खोलकर रख दिया जिससे उपनिवेशवाद पनपा और अब हम एक विश्ववाद (Globalism) की ओर बढ़ रहे हैं। मंगोलों द्वारा आविष्कृत कागज मुद्रा ने अर्थ व्यवस्था को कौड़ी, ताँबे, रजत और स्वर्ण मुद्राओं से मुक्ति दिलाई और उनसे भी अधिक सुविधाजनक मुद्रा कार्यक्रम अपनाने का मार्ग प्रशस्त किया। मंगोलों ने ही योरोप को 16वीं शताब्दी में भाप दी। इटली के प्रत्येक बड़े नगर में हजारों मंगोल दास काम करते थे जो पंद्रहवीं शताब्दी के मध्य में अपने शिखर पर पहुँचे। जिनीआ के व्यापारी इन दासों को कृष्ण सागर के बन्दरगाहों में थोक दास व्यापारियों से प्राप्त किया करते थे (*देल त्रैफिको ए देल्ले कादिजिओने देग्लि शिआवी इन वेनेजिया नेल तेम्पि दि मेज्जो, ले. लाजारी, 1962 : 1 : 470*)। ये दास गरम हवा की धौंकनियाँ अपने प्रार्थना चक्र घुमाने के लिए प्रयोग किया करते थे। इस तरह कारण्डब्यूह की प्राचीन बौद्ध प्रार्थना ने जहाजों के भाप से चलते पेंचदार प्राणोदकों को प्रशस्त किया। पक्षियों की आकृति वाली भाप छोड़ती धौंकनियाँ 1579 में तिथ्यांकित की जा सकती हैं। (जी.बी. ईसाची, *इन्वेंशनी*, पार्मा, 1579)। मंगोलों ने पूर्व और पश्चिम को खोलकर, कागज मुद्रा, बारूद और भाप देकर मानवता को लाभ पहुँचाया।

मंगोलिया जादूभरी मनोकल्पनाओं का देश है; यह अन्तरिक्ष और मौन, घास क्षेत्र और मनस, ठिठुराती ठण्ड और थरथराता तर्कशास्त्र, बौद्धदर्शन की गहराइयों और प्रतिमाओं के श्वसन, टिमटिमाती भूमि की प्रसृत आत्मा के सूक्ष्म आक्रमण का देश है। युवा कवियों का नया सौन्दर्यशास्त्र, भविष्य पर केन्द्रित राष्ट्रीय सांस्कृतिक परम्परा के गीत गुनगुनाता है। उदाहरण लें त्से बाऊडदोर्व का जहाँ मंत्र ध्वनि का अलंकरण बन गए हैं

गेर में समय का तीव्र कोलाहल
आग की गन्ध से उठ रहा
सिंह कर रहा चन्द्रिका में हमारे दाय की रक्षा
पिता के सपने पाँव के नीचे दबे हैं
माता की उँगलियाँ फेर रहीं प्रार्थना माला
बुद्ध बसे हैं, हमारे मनो में
उनके शान्त स्पष्ट नेत्र हैं भारी-भारी,
और मन्त्र उड़ रहे ध्वनि के अलंकरण बने हुए।

स्वातन्त्र्य की अभीप्सा और सृजन*

यशदेव शल्य**

किसी देश या जाति में सृजनात्मकता का आविर्भाव क्यों और कैसे होता है, इसका कारण कोई आज तक नहीं जान पाया। कम से कम यह कारण स्वतन्त्रता की अभीप्सा नहीं होता, यह निस्संदिग्ध रूप से कहा जा सकता है। हमारे सुदूर अतीत में आर्य जाति में वेदों के रचनाकाल से आरम्भ होकर महात्मा बुद्ध के काल तक, बल्कि कहीं सम्राट् अशोक के काल तक, एक अद्भुत सृजनात्मकता दिखाई देती है जो आज तक इस देश के बहुसंख्य समाज की सांस्कृतिक प्रतिष्ठा बनी हुई है। यदि रामायण-महाभारत को पीछे के काल की रचनाएँ मानें तो यह काल-खण्ड और आगे तक जाता है। यह दो हजार वर्ष से भी अधिक का दीर्घकाल है। एक सृजनात्मकता का कोई सम्बन्ध स्वातन्त्र्य की अभीप्सा से नहीं कहा जा सकता। यही बात उन दूसरी महान सभ्यताओं के लिए भी कही जा सकती है जो विभिन्न समाजों में उदित हुई और कम या अधिक अवधि तक उन समाजों में बनी रहीं। इनके विपरीत दूसरे बहुत से समाज हैं जो सृजनात्मकता से विहीन रहे और आज तक उसी आदिम अवस्था में पड़े हैं। इधर रोम के पतन के बाद यूरोप में 17वीं शताब्दी के बाद सृजनात्मकता का जो विस्तार हुआ, रूस में 19वीं से 20वीं शताब्दी के आरम्भिक कुछ वर्षों तक जो महान उपन्यासकारों और वैचारिक आन्दोलनों का आविर्भाव हुआ उसका भी कारण स्वातन्त्र्य की अभीप्सा को नहीं कहा जा सकता। हमारे ही देश में मुस्लिम राज्य-स्थापना के साथ एक अद्भुत सर्जनात्मक युग का भक्ति-धारा और भक्ति-काव्य के रूप में आविर्भाव हुआ था किन्तु उस काल में यहाँ के समाज और धर्म पर हुए भयानकतम विध्वंसक प्रहारों ने भी कोई स्वातन्त्र्य की अभीप्सा इस देश में उद्दीप्त नहीं की। इसका कारण यह कहा जा सकता है कि इन आक्रमणों और अत्याचारों से हमारे में कोई सांस्कृतिक या धार्मिक या राजनैतिक आत्मबोध उत्पन्न नहीं हुआ। अंग्रेजी राज्य-स्थापना के बाद भी भारत में सर्वप्रथम राजकीय पराजय और पराधीनता से उबरने की अभीप्सा के बजाय एक सांस्कृतिक नवजागरण ही दिखाई

* भारत भवन, भोपाल में इस विषय पर आयोजित गोष्ठी (14.4.2008) में प्रस्तुत किया गया लेख।

** दार्शनिक, चिन्तक एवं सम्पादक, उन्मीलन।

देता है और यहाँ का प्रबुद्ध वर्ग अंग्रेजी राज्य को वरदान के समान देखता दिखाई देता है। इस प्रकार इस काल में भी हमारे देश में कोई स्वातन्त्र्य की अभीप्सा दिखाई नहीं देती। दूसरी ओर विजेता आंग्ल देश ने इस देश को विजित तो किया, किन्तु वह तथा यूरोप के अन्य देश भी इसकी अतीत सांस्कृतिक समृद्धि से प्रभावित हुए बिना नहीं रहे और यहाँ के दार्शनिक, धार्मिक तथा साहित्यिक ग्रंथों का अंग्रेजी, फ्रेंच और जर्मन भाषाओं में अनुवाद होना आरम्भ हुआ। संस्कृत भाषा को यूरोपीय भाषाओं की जननी के रूप में पहचाना गया और इसका तथा यूरोपीय भाषाओं का भाषावैज्ञानिक अध्ययन आरम्भ हुआ। इसी प्रकार भारतीय जनमानस भी यूरोप के विज्ञान से बहुत चमत्कृत हुआ और फिर अंग्रेजी भाषा के अध्ययन से वह वहाँ के साहित्य और दर्शन के सम्पर्क में आया और उसकी उत्कृष्टता से चमत्कृत हुआ। स्वयं यूरोप में भी यह युग सैन्य शक्ति के अद्भुत विस्फार के साथ-साथ राजनैतिक नवजागरण का, वैज्ञानिक विचारों और आविष्कारों का तथा दार्शनिक विचारों, साहित्यिक नवसंवेदनाओं और संगीत तथा अन्य कलाओं में नई सृजनशीलताओं का था। इस प्रकार इंग्लैण्ड से और शेष यूरोप से भारत का साम्मुख्य मुसलमानों से हुए साम्मुख्य से सर्वथा भिन्न प्रकार का था। मुस्लिम आक्रान्ताओं के लिए भारतीय केवल पराजित विधर्मी थे, जो केवल वध और लूटपाट के विषय ही हो सकते थे और भारतीयों के लिए वे विजयी दस्यु और निकृष्ट विधर्मी। इन्होंने जबकि यहाँ के मन्दिरों और मूर्तियों का ध्वंस किया था, यूरोपीयों ने इन्हें उत्कृष्ट कला-कृतियों के रूप में देखा, अजन्ता और एलोरा जैसे कितने ही स्थल तो खोज कर हमें भी अपनी कला के प्रति गौरव का बोध इन्होंने ही दिया। अवश्य इनके धार्मिक नेता हिन्दू धर्म को अनादर की दृष्टि से ही देखते थे और हिन्दुओं को ईसाई बनाने का प्रयत्न करते थे, किन्तु ऐसा वे बलात् नहीं करते थे बल्कि समझा-बुझाकर और लुभा-फुसलाकर ही करते थे, और हिन्दू विद्वानों द्वारा ईसाई धर्म के खण्डन का वे युक्ति से ही प्रतिकार करते थे, हत्या द्वारा नहीं। मुस्लिम देशों में तो आज भी किसी के द्वारा मुस्लिम धर्म की आलोचना मृत्यु-दण्ड से दण्डनीय है। इसके विपरीत जब जर्मन विचारक हम्बोल्ट ने श्रीमद्भगवद् गीता का जर्मन भाषा में अनुवाद किया तो उसने उसे विश्व-साहित्य का महानतम दार्शनिक काव्य कहा और जर्मनी के तत्कालीन महानतम दार्शनिक हेगल ने उसकी विस्तृत (लगभग एक सौ पृष्ठ की) भूमिका लिखी। अवश्य वह भूमिका खण्डनात्मक ही थी, क्योंकि हेगल सामान्य रूप से ही भारतीय धर्म और दर्शन आलोचक था, किन्तु तब भी उसकी इतनी विस्तृत आलोचना में उसके महत्त्व का स्वीकार भी निहित है। इंग्लैण्ड, फ्रांस और जर्मनी के दार्शनिकों और कवियों द्वारा उपनिषदों की लगभग पूजाभाव से प्रशंसा स्वयं हमारी आँखें खोलनेवाली थी और स्वामी विवेकानन्द को तो प्रायः उन्होंने ही हमें उपलब्ध कराया था, जब अमरीका की सर्वधर्म सभा में दिए गए उनके व्याख्यान की वहाँ के प्रमुख

समाचार-पत्रों ने सर्वोत्कृष्ट व्याख्यान कहकर प्रशंसा की थी। इस व्याख्यान में उन्होंने प्राचीन भारतीय जीवन-दृष्टि की उत्कृष्टता ही बखानी थी। इसी प्रकार यूरोप के उत्कृष्टतम जर्मन कवि और चिन्तक गोएथे ने कालिदास के अभिज्ञान शाकुंतलम् की मुक्त कंठ से प्रशंसा की। सच पूछा जाए तो हम जो अपने अतीत को महान मानते थे उसकी महत्ता का ज्ञान हमें यूरोप ने ही दिया, भले ही इसमें कहीं-कहीं उनके अपने पूर्वाग्रह भी जुड़े रहते थे। उनके ये पूर्वाग्रह भी हमारे लिए हितकर ही थे, क्योंकि वे हमें उनका प्रतिकार करने के लिए प्रेरित करते थे और इस प्रकार अपनी खोज और समालोचना को प्रेरित करते थे। श्री अरविन्द की **दि सीक्रेट ऑफ दि वेदाङ्ग** और **फाउण्डेशन्स ऑफ इण्डियन कल्चर** तथा कुमार स्वामी के अनेक ग्रन्थ इसी प्रकार लिखे गए। इस उदीयमान और उदार यूरोप से हमारे सम्पर्क ने स्वभावतः हमें अभिभूत किया, किन्तु इसने हममें केवल अभिभव और आत्महीनता का भाव ही जाग्रत नहीं किया बल्कि अपने अतीत के बल पर आत्मगौरव का भाव भी दिया। किन्तु अपने वर्तमान के प्रति इसका प्रभाव हममें मिश्रित ही मिलता है। साहित्य और कलाओं के क्षेत्र में इसने सृजनात्मकता को और राजनीति के क्षेत्र में अपनी खोई प्रतिष्ठा पुनः पाने को प्रेरित किया, और सबसे बढ़कर, किसी भी जाति के लिए गौरवास्पद अनेक नेता दिए। किन्तु विचार के क्षेत्र में स्वामी विवेकानन्द और स्वामी दयानन्द, श्री अरविन्द और डॉ. भगवानदास एवं लोकमान्य तिलक, और सबसे बढ़कर महात्मा गाँधी के बावजूद हमने पूरी तरह यूरोप को आत्मसमर्पण कर दिया। इसका कारण हमारी शिक्षण-संस्थाएँ बनीं।

जबकि धर्म, राजनीति, साहित्य और कलाओं के क्षेत्र में इस सम्पर्क ने सृजनात्मकता को प्रेरित किया था और इन क्षेत्रों में पश्चिम के प्रभाव को हमने अपनी भूमि पर खड़े होकर ही ग्रहण किया था, जिस प्रकार पश्चिम के विचारकों और साहित्यिकों ने उपनिषदों और बुद्ध के प्रभाव को अपनी धरती पर खड़े होकर सृजनात्मक रूप से ग्रहण किया था, विचार के क्षेत्र में हममें यह सृजनात्मकता दिखाई नहीं देती। सम्भवतः इसका कारण भाषा बनी, और सम्भवतः यह भी कि विचारक वर्ग विश्वविद्यालयों के माध्यम से आया। विश्वविद्यालयों में विचार पश्चिम का ही मुख्यतः पढ़ाया जाता था, और जो भारत का भी पढ़ाया जाता था वह अँग्रेजी भाषा के माध्यम से और अँग्रेजों के द्वारा ही प्रस्तुत होता था। किन्तु सम्भवतः इसे एकमात्र कारण नहीं कहा जा सकता। हमारे देश में अँग्रेजों के आने से पहले भी कई शताब्दियों से कोई नया विचार नहीं हो रहा था, पिछले विचार का पिष्टपेषण ही हो रहा था। इसी से संस्कृत पाठशालाओं के पण्डित वर्ग में कोई वैचारिक हलचल दिखाई नहीं देती। इस नई परिस्थिति में भी जो नया विचार राजा राममोहन राय और स्वामी विवेकानन्द और श्री अरविन्द में दिखाई देता है, वह यूरोप की प्रतिक्रिया में ही। यही बात लोकमान्य तिलक के सम्बन्ध में कही जा सकती है। इन तीनों की विचार की

भाषा अँग्रेजी ही थी। इसी क्रम में महात्मा गाँधी आते हैं, जो यूरोप में शिक्षित होने पर भी मूलगामी रूप से पारम्परिक किन्तु उतने ही मूलगामी रूप से आधुनिक थे। यद्यपि वे विचारक नहीं होकर कर्म-चेता ही थे, किन्तु उनकी दृष्टि अद्भुत रूप से मूलगामी और भारतीय परम्पाररूढ़ होते हुए भी परम्परा के फलु को छोड़कर सारग्राही और आधुनिक थी। आधुनिक इसलिए क्योंकि वह नये युग की विद्रूपता के उपचार के रूप में उपजी थी। वह दृष्टि उसी प्रकार भारतीय समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र और राजनीतिशास्त्र की आधार हो सकती थी जिस प्रकार प्राचीन भारत में उपनिषद् और गीता, तथा बुद्ध और महावीर की दृष्टियाँ शास्त्रों की आधार बनी थीं। किन्तु वह नहीं बनी, जो दर्शाता है कि इस काल के भारत में विचार-ऊर्जा का अभाव था। विचार के क्षेत्र में नये अवतारों ने यूरोप को ही अपना नेता माना और अपने को केवल उसके व्याख्याकारों की भूमिका में ही रखा, जिसकी भूमि भी स्वभावतः पश्चिम के व्याख्याकारों की भूमि से नीचे के स्तर की ही हो सकती थी। इनमें जो प्राचीन भारतीय दर्शन की ओर भी गए, उसके भी अधिकांशतः पश्चिम का चश्मा पहनकर ही व्याख्याकार बने, किन्तु वहाँ भी मात्र व्याख्याकार ही। अवश्य संस्कृत और हिन्दी के अध्यापक पश्चिम के प्रभाव से अछूते थे, किन्तु वे भी केवल व्याख्याकार ही रहे और अधिकांशतः घटिया ही। दर्शन के इन अध्यापकों ने या तो पाश्चात्य आदर्शवादी दार्शनिकोंकांट, हेगल और ब्रैडले आदिपर व्याख्यात्मक लेखन किया या कांट, हेगल के साथ वेदान्त को लेकर तुलनात्मक लेखन किया। यह परिस्थिति स्वतन्त्रता के बाद बदल गई। अब हमारे ये अध्यापक अधिकांशतः आजीविका में अपनी योग्यताएँ बढ़ाने के लिए इंग्लैंड और अमरीका की ओर दौड़े और दो-एक अपवाद स्वरूप जर्मनी की ओर, और तब उन्हीं की भाषा बोलने में अपना गौरव देखने लगे। विचार के अन्य क्षेत्रोंराजनीति, अर्थ, समाज और मनोविज्ञानइनमें तो हमने आरम्भ से ही मान लिया था कि इनमें विचार का अधिकार केवल पश्चिम के विचारकों को ही है। इस आत्महीनता को किसी भी अर्थ में सृजन कहना और इसमें कोई स्वतन्त्रता की अभीप्सा भी खोजना उपहासास्पद ही कहा जा सकता है। परिणामस्वरूप हमने राज्य स्तरीय स्वतन्त्रता तो 1947 में पाई किन्तु इसमें हमने, गाँधीजी के शब्दों में, गोरे साहिबों के स्थान पर भूरे साहिबों को ही अपना शासक बना लिया, और जहाँ तक उस स्वतन्त्रता का सम्बन्ध है जो शासकीय स्वतन्त्रता से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण हैआत्मा की स्वतन्त्रताउसे तो हमने स्वतन्त्रता के बाद और पूरी तरह खो दिया। मैंने 1972 के लगभग अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के वार्षिक अधिवेशन में कहा था कि इधर जो 'समकालीन भारतीय दर्शन' नाम से अँग्रेजी में तीन संकलन-ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं उन्हें भारतीय दर्शन-ग्रन्थ कहने का कोई औचित्य नहीं है। वे भारतीय नागरिकों द्वारा अवश्य लिखे गए हैं किन्तु उनमें 'भारत का तत्त्व' कहाँ है? इस पर तुरा यह कि उनकी भाषा भी भारतीय नहीं थी।

इस दार्शनिक परिस्थिति का निरूपण मैं ऊपर कर चुका हूँ, किन्तु इससे उबार का रूप क्या होना चाहिए इसके लिए मैं भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शन-परम्पराओं के मूर्धन्य विद्वान प्रोफेसर गोविन्दचन्द्र जी पाण्डे के द्वारा प्रस्तुत आधुनिक भारतीय दार्शनिक परिस्थिति के संक्षिप्त विवरण का सहारा लूँगा। उनके अनुसार “(पश्चिमी आदर्शवादी दार्शनिकों के) प्रत्ययों और युक्तियों को पारम्परिक (भारतीय दार्शनिक) युक्तियों से समन्वित कर अनेक भारतीय दार्शनिकों ने रचनाएँ की हैं। इनमें के. सी. भट्टाचार्य, अनुकूल चन्द्र मुखर्जी, गोपीनाथ भट्टाचार्य आदि के नाम उल्लेखीय हैं। कुछ भारतीयों ने इस युग में पश्चिमी दार्शनिक प्रस्थानों और पद्धतियों पर लिखकर ख्याति अर्जित की है। इनमें हीरालाल हलधर, रासबिहारी दास, जे. एन. मोहन्ती आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। कुछ भारतीय दार्शनिकों ने पश्चिमी दर्शन से आरम्भ कर स्वतन्त्र दर्शन की रचना की है, जैसे यशदेव शल्य। कुछ दर्शन को अन्य ज्ञानविधाओं के सन्दर्भ में विवेचित कर रहे हैं जैसे देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय।”¹ इस निरूपण में एक संशोधन की आवश्यकता है। जो देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय आदि कर रहे हैं अन्य ज्ञान-विधाओं के संदर्भ में दार्शनिक विवेचनवह पूर्णतया पाश्चात्य दार्शनिकों के अनुसरण में ही है उसमें उनकी अपनी कोई दृष्टि नहीं है। जहाँ तक यशदेव शल्य का सम्बन्ध है, इस रचनाकार ने किस प्रकार पाश्चात्य दर्शन के अनुसरण में दार्शनिक लेखन आरम्भ किया, इसका विवरण हमने अन्यत्र दिया है।² उसके अनन्तर किस प्रकार उसने स्वतन्त्र दर्शन-रचना आरम्भ की उसका विवरण देना प्रस्तुत प्रसंग में स्थाने होगा। 1970 के लगभग इस लेखक ने उपनिषद्, शंकर के ब्रह्मसूत्र भाष्य, ईश्वर कृष्ण की सांख्यकारिका तथा वसुबन्धु की विज्ञप्तिमात्रता सिद्धि और प्रो. गोविन्दचन्द्र जी पाण्डे कृत अपोहसिद्धि का अनुवाद और व्याख्या पढ़ी।

पाश्चात्य दर्शन में भी अनुभववाद और अर्थक्रियावाद (प्रेगमेटिज्म) के आगे कांट और उसके अनुयायी अन्स्टर्ट कासीरर को पढ़ा और पाया कि भारतीय दर्शन की दृष्टि पाश्चात्य दर्शन से कहीं अधिक गहरी है किन्तु उसका प्रतिपादन उसकी अपनी दृष्टि के मर्म के अनुकूल नहीं है। इसमें उसने श्री अरविन्द को भी अयुक्त पाया और तब उस दृष्टि के मर्म के योग्य पदावली का, जैसा उसने समझा, विकास करने का प्रयत्न किया। पाश्चात्य दर्शन-परम्परा से मुक्त अपनी इस नवीन दृष्टि से इसने जो पहला निबन्ध-संग्रह **विद्विमर्श** के नाम से प्रकाशित किया उसे 'वैदान्तिक अनुभव का नवोन्मेष' कहा। वैदान्तिक अनुभव के इस उन्मेष में यह नवता कैसी थी इसकी व्याख्या में इसने पुस्तक-परिचय में लिखा “इसमें वेदान्त-सिद्धान्त का विवेचन या उस सिद्धान्त का नवीन विधि से प्रतिपादन नहीं है, बल्कि उस अनुभव को बुद्ध्या समझने का प्रयत्न है जिसका औपनिषद् ऋषियों ने प्रतिभया और सन्त कवियों ने अनुभूत्या साक्षात्कार किया था।” दर्शन के इस लेखक को एक बार भारत

भवन ने 'भारतीय भाषा चिन्तन' पर व्याख्यान देने के लिए आमन्त्रित किया था। इसी विषय पर व्याख्यान देने के लिए दो और विद्वान भी आमन्त्रित थे। उनके विपरीत इसने अपना व्याख्यान इन शब्दों के साथ आरम्भ किया “भारतीय से अर्थ प्राचीन भारतीय लिया जाता है और आधुनिक से अर्थ लिया जाता है जो आज के पाश्चात्य चिन्तक प्रतिपादित कर रहे हैं। आज के भारतीय की इति कर्तव्यता केवल इन दो के विचारों को प्रस्तुत करना ही मानी जाती है। किन्तु मैं ऐसा नहीं मानता। मैं यह मानता हूँ कि मैं आज का भारतीय हूँ और मुझे अपना विचार करने का अधिकार है। स्वभावतः मेरे पीछे भारतीय अतीत है जिसे समेटते हुए मैं भारतीय हूँ, किन्तु अपना विचार करते हुए मैं अपने अतीत से स्वतन्त्र भी हूँ। सो मैं यहाँ भाषा विषयक अपने विचार ही प्रस्तुत करूँगा।” इस प्रकार पाण्डेजी ने इस लेखक द्वारा जिस स्वतन्त्र दर्शन-रचना की बात की है उसका यह अर्थ है। यह रचना उसी अर्थ में स्वतन्त्र है जिस अर्थ में रवीन्द्र, बंकिम, शरत्चन्द्र, प्रेमचन्द और छायावादी कवियों-उपन्यासकारों की रचनाएँ स्वतन्त्र हैं। ये कवि और उपन्यासकार पश्चिम से परिचित थे किन्तु ये अपने अनुभव की भूमि पर खड़े थे और इनकी अपनी दृष्टि थी। ये रचनाएँ किसी भी अर्थ में अतीतोन्मुखी नहीं थीं और न किसी भी अर्थ में पश्चिमोन्मुख थीं, वे ऐसी नवीन थीं जो हजारों वर्ष पुरानी संस्कृति की नई जीवन्तता में प्रतिष्ठित थीं। दर्शन में इधर इसी प्रकार की रचनात्मकता दर्शन में दूसरे मार्ग से नए आए डॉ. मुकुन्द लाठ प्रदर्शित कर रहे हैं। किन्तु क्योंकि ये दोनों हिन्दी में लिख रहे हैं, जो विचार की भाषा होने योग्य नहीं मानी जाती, इसलिए इनकी ओर किसी का ध्यान नहीं है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि ये पिछले 22 वर्ष से 'मानसिक हिन्द स्वराज की स्थापना' के उद्देश्य से एक दार्शनिक पत्रिका भी चला रहे हैं और इस दिशा में निष्ठापूर्वक संलग्न हैं, जबकि इसी बोध से प्रेरित हो पिछली शताब्दी के तीसरे दशक के आरम्भ में के. सी. भट्टाचार्य ने लिखा था कि विचार के लिए अपनी भाषा अपनाए बिना मानसिक स्वराज्य पाना सम्भव नहीं है। किन्तु तब भी श्री भट्टाचार्य अँग्रेजी में ही लिखते रहे। तब स्वाभाविक ही था कि वैचारिक स्वराज में प्रतिष्ठित नहीं हो पाए। यह ध्यातव्य है कि 'स्वराज्य' शब्द उन्होंने महात्मा गाँधी के 1905 में लिखी भारतीय स्वतन्त्रता के घोषणा-पत्र सरीखी लघु पुस्तिका **हिन्द स्वराज्य** से लिया था, जिसमें उन्होंने अँग्रेजी भाषा से मुक्ति को अनिवार्य बताया था और उन्होंने अपनी इस घोषणा का निष्ठा से पालन किया था। यदि के. सी. भट्टाचार्य ने भी अपनी इस घोषणा में निष्ठा दिखाई होती तो निश्चय ही उसका कुछ स्वास्थ्यकर प्रभाव पड़ा होता। किन्तु उन्होंने यह निष्ठा नहीं दिखाई। उनकी यह बात तत्कालीन भारतीय मानसिकता की द्योतक थी। स्वतन्त्रता से पूर्व यद्यपि हिन्दी और उसके साथ अन्य भारतीय भाषाओं को अपनाए का आदर्श बना रहा और गाँधी जी की प्रेरणा से दक्षिण के विभिन्न प्रान्तों में राष्ट्रभाषा प्रचार समितियाँ स्थापित हुईं, तब

भी ये भाषाएँ वैचारिक लेखन की भाषाओं के रूप में नहीं अपनायी गईं। इसी से जब मैं 1952 में दर्शन के अध्ययन-लेखन की ओर अग्रसर हुआ तो मैंने पाया कि हिन्दी में एक भी पत्रिका नहीं है जिसमें इस विषय के लेख प्रकाशित हो सकें। एक 'समाज' नामक पत्रिका डॉ. सम्पूर्णानन्दजी के सम्पादन में उससे पहले आरम्भ हुई थी किन्तु वह दो-तीन अंकों के प्रकाशन के बाद ही बन्द हो गई। इस पर मैंने एक लेख लिखा कि हिन्दी को यदि भारत जैसे राष्ट्र की राष्ट्रभाषा होना है तो उसे विभिन्न शास्त्रों और विज्ञानों की भाषा भी होना होगा और तब हिन्दी में दार्शनिक पत्रिका के प्रकाशन का संकल्प किया और इसके लिए अनेक हिन्दी संस्थाओं, प्रकाशकों और नेताओं तथा दर्शन के अध्यापकों से सम्पर्क किया। तब सम्पूर्णानन्द जी ने मुझे चेताया कि मैं ऐसा जोखिम नहीं उठाऊँ क्योंकि वे 'समाज' पत्रिका आरम्भ कर अपने दाँत तुड़ा चुके हैं। किन्तु मैंने तो छलाँग लगा दी और न केवल दार्शनिक त्रैमासिक पत्रिका ही 1954 से 1982 तक चलाने में सफल रहा बल्कि अखिल भारतीय दर्शन परिषद् नामक संस्था स्थापित करने में भी सफल रहा, जो संस्था आज भी चल रही है और फलफूल रही है। 1985 से मैंने एक दूसरी दार्शनिक पत्रिका **उन्मीलन** नाम से आरम्भ की जो आज भी चल रही है और इसका लक्ष्य 'मानसिक हिन्द स्वराज का वैतालिक' निर्धारित किया। किन्तु खेद की बात है कि यह सब प्रयत्न जयशंकर प्रसाद के शब्दों में कहें तो 'हारी होड़' ही सिद्ध हो रहा है। दर्शन में आज भी अँग्रेजी के माध्यम से मरियल लेखन ही हो रहा है, सब शास्त्रों और विज्ञानों की संस्थाओं की भाषाएँ अँग्रेजी ही है, विश्वविद्यालय में बाध्य होकर भारतीय भाषाएँ वैकल्पिक माध्यम के रूप में स्वीकार की गई हैं किन्तु उनके कार्य की भाषा आज भी अँग्रेजी ही है, और यह अँग्रेजी अब उससे कहीं अधिक बढ़ रही है जितनी अँग्रेजी-शासन काल में थी। आज प्राथमिक विद्यालयों में भी अँग्रेजी पढ़ाई जा रही है जबकि अँग्रेजी शासन में पाँचवीं कक्षा से आरम्भ होती थी, हिन्दी माध्यम स्कूल निर्धन वर्ग के बच्चों के लिए ही रह गए हैं, और अपढ़ दादियाँ-नानियाँ आज बच्चों को सेब के बजाय 'ऐप्पल' और केले के बजाय 'बनाना' खिलाती हैं। हिन्दी के कम से कम कुछ अखबार हिन्दी के बजाय हिंगलिश का प्रयोग कर रहे हैं। फिर कैसी स्वातन्त्र्य की अभीप्सा और कैसी सृजनात्मकता? जो देश अपनी भाषा तक छोड़ने को तैयार है उसमें स्व की बात ही कहाँ रह जाती है जिस स्व का कोई तन्त्र हो? इधर इसके साथ आर्थिक कारण और जुड़ गए हैं बाहरी कम्पनियों के काल सेण्टरों में नौकरी के लिए हमें अँग्रेजी चाहिए, कम्पनियों की मैनेजरी के लिए अँग्रेजी चाहिए। यह अद्भुत तर्क है। इसने अब हमारे लिए उस धर्म को भी व्यापार बना दिया जिसमें पीछे हमने कुछ सृजनात्मकता दिखाई थी। स्वाध्याय आन्दोलन और गायत्री परिवार आन्दोलन के रूप में यह सृजनात्मकता धर्म के क्षेत्र में प्रकट हुई थी। इसी प्रकार रामकृष्ण परमहंस और रमण महर्षि से लेकर निसर्गदत्त जी और मंगतरामजी आदि तक अनेक अद्भुत

सन्तों का आविर्भाव इस देश की आध्यात्मिक ऊर्जा की अजस्रता के रूप में प्रकट हुआ था, किन्तु अब उसमें भी योग योग और राम तथा कृष्ण रामा तथा कृष्णा के रूप में ही स्वीकृत हो रहे हैं। इधर इस देश के महाशक्ति के रूप में उभरने की बात हो रही है, किन्तु इस महत्ता की परिभाषा अर्थ और सैन्य बल ही हैं, कोई दृष्टि नहीं। जिस देश की संस्कृति उन महाकाव्यों पर टिकी है जिन्होंने मानव की शक्ति स्वर्ण-लंकापति और शक्तिशाली असुर सेनापति रावण में नहीं वनचारी राम में देखी थी और जिसने कर्म का बल निष्कामता में देखा था, आज भी जिसने विश्व का महानतम राजनीतिज्ञ एक सत्य-अहिंसा और त्याग की बात करने वाले महात्मा गाँधी के रूप में उत्पन्न किया था, वही देश आज दृष्टि-विवेक-हीन अर्थ और सैन्यबल में अपनी शक्ति खोज रहा है। इसी से हमारी राजनीति आज भ्रष्टाचारी, अवसरवादी, आत्मसम्मानविहीन, दृष्टि-हीन चाटुकारों का रंगमंच बन गई है और समाचार-पत्रों और वैद्युत समाचार-माध्यमों के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण क्रिकेटर तथा नट-नटियाँ बन गए हैं। अभी पीछे एक खिलाड़ी ने दूसरे खिलाड़ी के थप्पड़ मार दिया तो यह कम से कम एक समाचार पत्र के लिए संसार की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना बनी और वैद्युत माध्यमों के लिए तीन दिन तक लगभग एकमात्र चर्चा का विषय रही। ऐसे में यदि किसी दार्शनिक या साहित्यिक या कलाकार को समाचार माध्यमों में कभी स्थान मिलता ही है तो मानना चाहिए कि उसका कुछ अदार्शनिक असाहित्यिक कारण ही हो सकता है। ऐसे में यदि कोई अच्छा विचारक, अच्छा सृजनात्मक प्रतिभा-सम्पन्न दार्शनिक, साहित्यिक या कलाकार हो भी तो वह दिखाई ही कैसे देगा? यदि कोई दृष्टि-सम्पन्न राजनीतिज्ञ हो तो उसे उभरने ही कौन देगा? आज हम स्वमन्त्र हैं, किन्तु बिना किसी स्व के, ऐसे में सृजन की बात उपहासास्पद लगती है। आज अँग्रेजी के ही नहीं, हिन्दी के भी, और दार्शनिक या समाजशास्त्री ही नहीं, साहित्यिक भी, किसी भी लेखक का लेख देख लीजिए, उसमें यूरोपीय विचारकों के उद्धरण आप्तवाक्यों के समान आप को उद्धृत मिलेंगे। यहाँ तक कि उपन्यासों और नाटकों के पात्रों तक के उल्लेख में हिन्दी उपन्यासों-नाटकों के पात्रों के नामों के बजाय आपको अँग्रेजी उपन्यासों-नाटकों के नाम ही मिलेंगे। तो यह है हमारा स्वातन्त्र्य और सृजनशीलता।

सन्दर्भ

1. *समसामयिक भारतीय संस्कृति*, पृ. 99, राका प्रकाशन, इलाहाबाद, 2007
2. यशदेव शल्य *तत्त्वचिन्तन* में 'सृजन और परिवेश अथवा सत्य की खोज' लेख। राका प्रकाशन, इलाहाबाद, 2006

कोसी, जल-प्रलय और बिहार की त्रासदी

ब्रज बिहारी कुमार

आखिर कोसी ने बीरपुर बाँध से 12 किलोमीटर ऊपर नेपाल के कुसहा में अपना तटबंध-तोड़ ही दिया। तटबंध के टूटने से आये जल प्लावन से जान-मान की भयंकर क्षति पहुँची है। इससे 1600 गाँव तथा लगभग तीस लाख लोग प्रभावित हुए हैं। सवा लाख हेक्टेयर जमीन के डूबने से 150 करोड़ की फसल नष्ट हुई है; लगभग नव लाख मवेशी प्रभावित हुए हैं; लगभग तीन लाख मकानों के नष्ट होने से बीस लाख लोग गृह-विहीन हुए हैं और दसों हजार डूब मरे हैं। इस बाढ़ ने इतना समय भी नहीं दिया कि लोग खूँटे से बँधे मवेशियों को खोल सकें; भाग कर अपनी जान बचा सकें। तटबंध टूटने के स्थान के सीध में पड़ने वाले गाँवों ठटहा, मटियारी, विष्णुपुर, बिनापुर, भवानीपुर, बलुआ बाजार का अस्तित्व ही नष्ट हो गया है।

इस बाढ़ ने पिछले कई दशकों से हुए विकास कार्यों - सड़कों, विद्यालयों, आदि को धो पोंछकर समाप्त कर दिया। ऊपजाऊ जमीन बालू से पट गयी, मवेशी मर गये। जो बचे हैं, वे चारे की कमी से मरेंगे। मधेपुरा जिला के अधिकांश भाग तथा सुपौल, सहर्सा, अररिया, पूर्णिया एवं कटिहार के कई प्रखण्डों की अर्थव्यवस्था चौपट हो गयी है।

इस बाढ़ ने समाज की अच्छाइयों एवं बुराइयों को साथ साथ उजागर किया है। बाढ़-पीड़ितों की सहायता के लिए लोग तन मन धन से सामने आये, सरकारी तंत्र के सचेष्ट होने के पहले ही। लेकिन बाढ़ से बचाने के नाम पर औरतों से छेड़छाड़ तथा गहने छीने जाने की घटनाएँ भी हुईं, एक मवेशी बचाने के बदले एक माँगे जाते रहे। बच्चों की तस्करी की खबर भी आयी है। इस बाढ़ से उपजी मानवीय त्रासदी झटके देती है मन को दुख से सराबोर करती है। एक माँ तथा उसकी पीठ पर उसकी साड़ी से बँधे उसके दो बच्चों की लाशें, साथ ही पीठ पर बँधे उनके स्कूल के बस्ते; एक दूसरे से जकड़े पति-पत्नी की लाशें, बाढ़ के पानी के साथ बहती सैकड़ों मनुष्यों, मवेशियों की लाशें। किसी नहर पर 15 दिनों तक अपने दो बच्चों के साथ भूख-प्यास, धूप एवं वर्षा से प्रताड़ित वासु देवी केले के स्तम्भों की नाव बनाकर घर लौटना चाहती है, उसकी पाँच एवं एक वर्ष की दोनों बच्चियाँ फिसल कर पानी में गिरती हैं और बह जाती हैं। जिरवा गाँव का श्रमिक दिनेश साह रात के समय

अचानक जगकर पाता है कि घर में पानी भरा है और उसके पाँचों बच्चे चौदह, बारह एवं दो वर्ष की बच्चियाँ तथा नौ तथा पाँच वर्ष के बच्चे जल में तैर रहे हैं, तभी तेज धार में घर का छप्पर ऊपर से गिरता है; त्रस्त एवं किंकर्तव्य-विमूढ़ दिनेश उन बच्चों, अपनी पत्नी, माता-पिता, दो बहनों (जिनमें एक के गर्भ में बच्चा था) तथा बहनों के परिवार को छोड़ तैर कर बाहर आ जाता है। सहर्सा के रिलिफ कैम्प में वह लगातार अपनी सूनी आखों से किसी परिचित का चेहरा खोज रहा है जो उसे उन बिछड़े हुआँ की जानकारी दे सके। सुनीता देवी के दो बच्चे बाढ़ में डूब मरे थे। दो दिनों तक भयंकर प्रसव पीड़ा झेलती वह महिला पति को अकेला छोड़कर अपने गर्भस्थ बच्चे के साथ चल बसी। उसका पति उसे लेकर एक एक अस्पताल एक एक क्लिनिक की परिक्रमा करता रहा; प्रसवग्रस्त माँ तड़पती रही, बच्चे का हाथ बाहर निकला हुआ था, किसी डॉक्टर को अन्त तक उसपर दया नहीं आयी। सैकड़ों परिवार हैं जिनका कोई न कोई मरा है, अनाथ बच्चे वेसहारा वृद्ध एवं औरतें; त्रासदी भोगने के लिए अकेला बचा परिवार का सदस्य। पिछले दिनों कोसी क्षेत्र में यह त्रासदी बार बार दुहरायी गयी, सैकड़ों बार। प्रश्न है कि इस मानवीय त्रासदी के लिए क्या कोसी को जिम्मेदार ठहराया जा सकता है?

ध्यातव्य है कि 1984 में कोसी का तटबंध सात लाख क्युसेक पानी के दबाव से भी नहीं टूटा था, वह इस बार मात्र एक लाख 77 हजार का दबाव नहीं झेल पाया। वस्तुतः पिछले पन्द्रह वर्षों से तटबंध के रखरखाव में ढील दी जाती रही थी। फिर हुआ वही जिसकी चेतावनी कोसी के अवकाश प्राप्त मुख्य अभियंता बिन्देश्वरी सिंह ने आज से ठीक दस वर्ष पहले 29.9.1998 की एक टिप्पणी में बिहार सरकार के सिंचाई विभाग को दिया था। उनके अनुसार तटबंध के ऊपरी भाग को (बराज के ऊपर भी) पूर्व या पश्चिम तरफ पाँच से दस वर्ष के अन्दर टूटना ही था। उस समय तटबंध के भीतर बालू का स्तर बाहर के गाँवों से औसतन तीन मीटर ऊपर हो गया था। जैसा कि उन्होंने लिखा था कि बाँध के भीतर का तीन मीटर पानी तटबंध टूटने पर कुल छ मीटर की ऊँचाई से चलेगा, जिससे अगल बगल के जिलों के हजारों लोगों तथा पशुओं की जानें जायेंगी, एक मंजिला मकान पूरी तरह डूब जायेंगे; भयंकर तबाही होगी। उनकी टिप्पणी में बाँध टूटने पर नदी की धारा बदल जाने की संभावना भी व्यक्त की गयी थी।

2004 में जब नदी की धारा पूरी तरह से तटबंध से टकराने लगी, तटबंध के लिए खतरा नजर आने लगा तो फिर बाँध की मरम्मत की बात उठी। उपग्रह से प्राप्त चित्रों से प्राप्त जानकारी की मरम्मत के प्रस्ताव के साथ ही अनदेखी की गयी, जिसमें केन्द्र से आनेवाली विशेषज्ञ कमिटी की भी ऋणात्मक भूमिका रही। फिर नदी के पेटे से बालू गाद निकालने की 2007 की योजना भी अस्वीकृत की गयी। अन्ततः दिल्ली तथा पटना के सचिवालयों में फाइलें इधर उधर होती रहीं; दिल्ली एवं पटना के बीच

पत्र-व्यवहार होता रहा और जैसा कि समाचार पत्रों में बिहार के जल संसाधन मंत्री के वक्तव्य से जानकारी आयी बाँध के रखरखाव के लिए केन्द्र से अत्यल्प राशि दी गयी। जहाँ तटबंध टूटा वहाँ पेड़ एवं झाड़ियाँ लगी थी; इससे पता चलता है कि वर्षों से तटबंध के रखरखाव का काम नहीं हुआ था।

कोसी कई अर्थों में विश्व की किसी भी नदी से अलग तरह की नदी है। पूर्वी नेपाल के काठमाण्डु के पूर्व के क्षेत्र में अवस्थित इसका ऊपरी जल ग्रहण क्षेत्र विश्व की दो सबसे ऊँची चोटियों - एवरेस्ट एवं कंचनजंघा - के मध्य अवस्थित है जो विश्व की किसी भी नदी से अधिक ऊँचाई पर स्थित जलग्रहण क्षेत्र है। चतरा तक, जहाँ यह नदी पहाड़ों से उतरती है, के कुल जलग्रहण क्षेत्र 23000 वर्गमील का लगभग 10% क्षेत्र - 22,00 वर्ग मील हिम-रेखा के ऊपर का क्षेत्र है। कोसी सात नदियों/धाराओं के मिलने से बनी है; इसलिए इसे बराह क्षेत्र के पहले सप्त कोसी नाम से जाना जाता है। मुख्य नदी सुन/स्वर्ण कोसी से मिलने वाली छ अन्य नदियों भोटिया/इन्द्रावती कोसी, ताम्बा/ताम्र कोसी, लिखी कोसी, दूध कोसी, अरुण कोसी एवं तामुर कोसी - में से अन्तिम दो त्रिवेणी नामक स्थान पर सुन कोसी से मिलती हैं। अरुण कोसी, जिसे तिब्बत में फिंग्चु कहते हैं, हिमालय में बहुत गहरी घाटी काटते हुए तिब्बत से आती है। सात धाराओं के मिलकर बनने से इसे सप्त कोसी कहा जाता है। उत्तरी बिहार में भी इस नदी की सहायक नदियाँ मिलती हैं, जिनमें मुख्य बागमती है, यहाँ इस बात का उल्लेख जरूरी है कि पूर्वी नेपाल के लिम्बुआन तथा सिक्किम की भाषा लिम्बु/किरान्ती में कोसी शब्द नदी का पर्याय है।

कोसी का जल प्रवाह औसतम 406 लाख एकड़-फीट का रहा है जिसका 80% मानसून के पाँच महीनों में प्रवाहित होता है। वर्षा एवं बर्फ पिघलने से सबसे अधिक औसतन दो से ढाई लाख क्यूसेक पानी जुलाई-अगस्त के महीने में प्रवाहित होता है। रिकार्ड बहाव 24 अगस्त 1954 का 8.55 क्यूसेक का रहा है।

बाल्मिकीय रामायण में कोशी को एक शान्त नदी के रूप में याद किया गया है। किन्तु नदी का स्वभाव वैसा बना नहीं रहा। यह नदी चीन की ह्वांगहो की तरह “बिहार का शोक” बनकर उभरी। भयंकर कटाव तथा बाढ़ अगल बगल की हरी-भरी जमीन को बालू भरकर अनुर्वर बनाना इसका स्वभाव बन गया। कोसी 95000 एकड़ फीट गाद कंकड़-पत्थर, बालू, मिट्टी पहाड़ों से ढोकर लाती है, जो 150 वर्गमील के क्षेत्रफल की जमीन को एक फीट ऊँचा कर सकती है। कोशी के कटाव एवं धारा-परिवर्तन का यह सबसे बड़ा कारण है। ध्यातव्य है कि कोसी विश्व की किसी भी नदी से पाँच गुणा अधिक गाद ले आती है। इसके कटाव की यह स्थिति रही है कि यह नदी मात्र 100 वर्षों में 110 कि.मी. पश्चिम घिसक गयी। कभी यह नदी फारबिसगंज, पूर्णिया कटिहार तथा मनहारी के बगल से बहती थी; आज

पण्डौल के नजदीक से। इसके कटाव का रिकार्ड एक वर्ष में 20 कि.मी. का रहा है। एक और बात। इसके 100 वर्ष के सारे कटाव के दौरान नेपाल में बेल्ला हिल के सँकरे निकास (ठमसां पिसस दवेम) तथा गंगा में मिलने के स्थान, कुरसेला में कोई बदलाव नहीं आया। केवल इन दो स्थानों के बीच नदी गोल घुमावदार कटान करती हुई पश्चिम की तरफ बढ़ती गयी।

कोसी के विद्रोही तेवर के कई कारण हैं। नदी का जलग्रहण क्षेत्र नये कच्चे पर्वतों का है जो भू-वैज्ञानिक कारणों से अत्यधिक रोड़े-पत्थर, कंकड़, बालू, गाद पैदा करता है। नदी की ढलान किसी भी नदी से अधिक है। अत्यन्त सँकरी घाटी से गुजरने से नदी, अगल-बगल जमा नहीं कर पाती। मैदानी क्षेत्र में उतरने के पहले बाराह क्षेत्र में तो यह नदी तीन स्थानों पर सीधे खड़ी दिखयी देती है। चतरा के बाद पर्वत से निकलने के बाद भी नदी की ढलान लगभग पाँच फीट प्रति किलोमीटर है जो हनुमान नगर तक आते आते 3.2 फीट रह जाती है। इसके बाद ढलान कम होते होते आधा फीट प्रति किलोमीटर रह जाती हैं। तेज ढलान तथा तीव्र गति कारण नदी कंकड़-पत्थर बालू, गाद ढोती चलती है। चतरा से लगभग 32 कि.मी. तक यह पत्थर, कंकड़ आदि तथा बेल्ला पहाड़ी के बाद बालू जमा करने लगती है। इस के दो प्रभाव पड़ते हैं:

- (1) नदी का पेड़ा सदा बाहर की तूलना में ऊँचा होता है, जिससे बाढ़ का पानी बहुत बड़े क्षेत्र में फैल जाता है। बाढ़ के समय नदी चलते फिरते समुद्र का रूप ले लेती है।
- (2) पहाड़ से निकलते ही नदी डेल्टा का रूप दिखाती हुई कई धाराओं में बँटने की प्रवृत्ति रखती है। बिहार में कोसी की 130 कि.मी. यात्रा में इसके दुष्प्रभाव की कहानी बार बार दुहरायी जाती रही हैं।

कोसी को बाँधने की बात 1891 से ही चलती रही। बाढ़ का हवाई सर्वे 1945 में अंग्रेज वायस राय लार्ड वावेल ने तथा 1951 में पण्डित नेहरू ने किया था। इसके बाद बाँध की बात चली; 1964 में बाँध बनकर तैयार हुआ। क्षेत्र में खुशहाली भी आयी। लेकिन वर्तमान

त्रासदी ने सब कुछ घोंघो कर एक समान कर दिया।

अत्यधिक जल प्रवाह तथा रखरखाव की कमी के चलते कोसी का तटबंध पहले भी सात बार टूटा है। अन्तिम बार लालू प्रसाद यादव के मुख्य मंत्रित्व के दौरान 18 जुलाई 1991 को तटबंध नेपाल क्षेत्र में ही टूटा था। इस बार माओवादियों की युवा शाखा ने अन्तिम दौर के मरम्मत के काम में बाधा पहुँचाया था तो 1991 में नेपाल एवं बिहार के बलुवा बाजार के ठीकेदारों के सम्मिलित अवरोध ने। नेपाल से अपेक्षित सहायता दोनों बार नहीं मिली। इससे अपने पड़ोसी देशों के साथ हमारे संबंधों की कमजोरी एक बार फिर सामने आयी है।

कोसी के गाद जमा करने की समस्या शुरू से रही है, लेकिन शुरू में तटबंध के मध्य नदी के पेटे की गाद नदी के तलहटी से हटायी जाती रही, जो बाद में जलस्तर से की जाने लगी। समस्या की जड़ में इस बात के अतिरिक्त पिछले 15 वर्षों की रखरखाव एवं मरम्मत की उपेक्षा भी कारक बनी। इन सबके बावजूद कमसे कम इस बार तटबंध को टूटने से बचाने की संभावना तो थी ही। 5 अगस्त को कुसहा तटबंध पर नदी का दबाव बढ़ा। मुख्य अभियंता ने बिहार के काठमाण्डु स्थित कोसी प्रोजेक्ट सम्पर्क पदाधिकारी को उसी दिन बीरपुर से इसकी सूचना दे दिया। पदाधिकारी अनुपस्थित थे, फोन बिल न जमा करने से कट चुका था। 9 से 16 अगस्त के बीच उन्होंने बिहार के बाढ़ नियंत्रण से जुड़े ग्यारह वरिष्ठ पदाधिकारियों को खतरे के प्रति आगाह किया। लेकिन हुआ क्या? वहाँ बालू की बोरिया तक नहीं थी; पाँच लाख वर्ग फीट पत्थर भण्डार में बिना उपयोग के पड़ा रहा। तटबंध की मरम्मत 20 अप्रिल तक हो जानी थी वह अन्तिम समय तक नहीं हुआ। 18 अगस्त को तटबंध टूट गया। इसकी सूचना केन्द्र को 19 अगस्त को, भी जबकि नदी लगातार टुटन का विस्तार कर रही थी, नहीं दी गयी। मुख्यमंत्री नीतीश कुमार तक को इसकी सूचना बाँध टूटने के एक दिन बाद दी गयी। स्थिति ऐसी थी कि बिहार के सिंचाई विभाग की बुलेटिन बाँध के सुरक्षित होने का समाचार बाँध टूटने के एक दिन पहले तक प्रसारित करती रही। बाँध दिन के दो पहर टूटा था, लोगों को आधी रात या उसके बाद भी इसका पता न था। यदि बिहार की सड़ी गली उत्तरदायित्वहीन संवेदनहीन नौकरशाही ने बाँध टूटने की सूचना समय पर दी होती तो लाखों लोग अपने पशुओं के साथ, खाने पीने का कुछ सामान लेकर अगल बगल के ऊँचे सुरक्षित स्थानों पर चले गये होते; तब इस दुखद त्रासदी का प्रभाव काफी कम होता। नौकरशाही की कमियाँ लोगों को राहत पहुँचाने, विशेषतः गावों में, के दौरान खुलकर सामने आयी। प्रश्न उठता है कि नौकरशाही को इस स्तर तक नीचे लाने के लिए बिहार की राजनीति तथा इसके वर्तमान एवं पूर्व मुख्यमंत्री कितने उत्तरदायी हैं? उत्तरदायित्वहीनता के लिए कोसी क्षेत्र के किसी जिलाधिकारी का स्थानान्तरण कर दिया गया। क्या स्थानान्तरण दण्ड है? यदि नहीं तो ऐसे अपराधी किस्म की उत्तरदायित्वहीनता के लिए बर्खास्तगी तथा धारा 302 के अन्तर्गत मुकदमा चलाने का प्रावधान अब तक क्यों नहीं किया गया? कोशी के बाढ़ की त्रासदी का एक दुखद पक्ष यह भी है कि इससे जुड़े केन्द्रीय मंत्री बिहार के हैं और राज्य के मंत्री सबसे अधिक प्रभाविक मधेपुरा जिले के। ठीकेदार राज्य के सिंचाई मंत्री के निकट संबंधी बताए जाते हैं।

कोसी की इस त्रासदी के लिए कोसी जिम्मेदार नहीं है। यह मनुष्य निर्मित त्रासदी है जिसके लिए हमारी निर्लज्ज राजनीति, संवेदनहीन उत्तरदायित्वहीन नौकरशाही, राजनीतिकों नौकरशाहों- ठीकेदारों का अपराधी गठजोड़ एवं भ्रष्ट व्यवस्था

ही उत्तरदायी नहीं है, बल्कि विकास की गलत अवधारणा भी। कोसी आदि नदियों की प्राकृतिक जल निकासी की दिशा दक्षिण-पूर्व की तरफ है जबकि उत्तर भारत के प्रमुख रेल पथ तथा सड़कें पूर्व-पश्चिम की तरफ चलती हैं, जिनके निर्माण में जल-निकासी के प्रावधान की कमी से जल-जमाव होता रहा है। कोसी क्षेत्र में नदी पुरानी धार पर आए या न आये, जल जमाव की समस्या से खेती तो चौपट हो कर ही रहेगी। कोसी की नहरों में भी रखरखाव की कमी से मिट्टी बालू भरा हुआ है; अतः जल निकासी में नहरें बाधक ही बनेगी। पहले नदियाँ अपने दोनों ओर मिट्टी फैलाकर जमीन को ऊपजाऊ बनाती थीं, उनकी भीतरी सतह की गहराई बनी रहती थी; बाढ़ कम समय के लिए तथा कम आती थी। अब वैसा नहीं होता। अब तटबंध के भीतर गाद/मिट्टी/बालू जमा होने से नदी की सतह बाहर से ऊँची हो जाती है; बाँध टूटते ही हैं, भयंकर बर्बादी होती है। आवश्यक है कि हम अपनी बाढ़ नियंत्रण की नीति को बदलें।

कोसी : परिचय एवं संदर्भ

देवेन्द्र कुमार देवेश*

कोसी नदी

बिहार की नदियों के गहन अध्येता पंडित हवलदार त्रिपाठी 'सहृदय' ने अपनी पुस्तक में लिखा है—बिहार प्रदेश के उत्तरी सीमांचल को छूते ही कोसी अपनी प्रवाह-वेणी को बिखरा देती है और काली घटाओं जैसी अपनी अनेक धाराओं से सहरसा और पूर्णिया जिले में फैल जाती है। दरभंगा जिले के पूर्वी भाग से पूर्णिया जिले तक की 75 मील की भूमि में एक इंच भी ऐसी भूमि नहीं है, जहाँ कभी कोसी नदी की धारा न बही हो। इस 75 मील के चौड़े क्षेत्र में 'कोसी' अनेक बार पश्चिम से पूर्व की ओर गई और अनेक बार पूर्व से पश्चिम की ओर आई है। कोसी नदी पूरब में पूर्णिया, दिनाजपुर और मालदह जिलों को पार करती 'बोगरा' जिले में ब्रह्मपुत्र की धारा तक दौड़ लगा चुकी है और पश्चिम में कमला नदी की धारा तक आ चुकी है। इस प्रकार इसका आना-जाना हजारों वर्षों से जारी है।¹

वस्तुतः कोसी भारत में सबसे ज्यादा पानी लानेवाली नदी है। दुनिया के सर्वाधिक ऊँचे पर्वतों से निकलने वाली कोसी लोक में ही नहीं, पुराणों में भी अपनी विध्वंसक प्रवृत्ति के लिए ख्यात हैइसे बिहार/बंगाल का शोक भी कहा गया है। कोसी नदी की धाराएँ मध्य-पूर्व हिमालय के विशाल हिमनदों से प्रायः 7000 मीटर की ऊँचाई से अपनी यात्रा शुरू करती हैं। पश्चिम से पूर्व की ओर 248 किलोमीटर तक विस्तृत सप्तकौशिकी के नाम से अभिहित कोसी की सात धाराएँ—द्रावती, सुन कोसी, तामा कोसी, लिक्खु (लिक्खु) कोसी, दूध कोसी, अरुण कोसी और तामर कोसी—नेपाल के धनकुड़ा जिले में स्थित चतरा से प्रायः दस किलोमीटर की दूरी पर त्रिवेणी नामक स्थान पर संगम करती हैं। इनमें सबसे लंबी धारा अरुण कोसी है, जो तिब्बती पठार के मध्य हिम सरोवर से निकलती है तथा तिब्बती पठार में 'फूड छू' के नाम से लगभग 231 कि.मी. और नेपाल की भूमि में लगभग 123 कि.मी. की दूरी तय कर संगम तक पहुँचती है। लिक्खू कोसी सबसे छोटी धारा है, जो मात्र

* उपसंपादक, साहित्य अकादेमी, रवीन्द्र भवन, 35, फीरोजशाह मार्ग, नई दिल्ली 110001, मोबाइल : 9868456153

48 कि.मी. लंबी है और सोलूखुंबू जिले के एक ग्लेशियर से निकलती है। अरुण कोसी माउंट एवरेस्ट तथा तामर कोसी कंचनजंघा पर्वतमाला से पानी लाती है। पहली पाँचों धाराएँ गौरीशंकर शिखर तथा मकालू पर्वतमाला से होकर आती हैं और इनका सम्मिलित प्रवाह सुन कोसी कहलाता है, जिसके साथ अरुण और तामर कोसी का भी संगम हो जाने पर संगमित प्रवाह सप्तकोसी, महाकोसी अथवा कोसी कहलाता है। कोसी का कुल जलग्रहण क्षेत्र 74,030 वर्ग कि.मी. है, जिसमें इसकी दो मुख्य सहायक नदियों—कमला (जलग्रहण क्षेत्र : 7232 वर्ग कि.मी.) तथा बागमती (जलग्रहण क्षेत्र : 14,384 वर्ग कि.मी.) के जलग्रहण क्षेत्र शामिल नहीं हैं।

त्रिवेणी संगम से नेपाल में प्रायः 50 कि.मी. की दूरी तय कर भारत-नेपाल सीमा पर अवस्थित हनुमान नगर (कोसी का पश्चिमी किनारा) और भीमनगर (कोसी का पूर्वी किनारा) गाँवों के पास से महाकोसी भारत में प्रवेश करती है। इसकी विध्वंसक परिवर्तनशीलता को नियंत्रित करने के लिए 1965 ई. में भीमनगर में बराज बनाया गया है, जिसके 56 फाटकों से महाकोसी के पानी को दो तटबंधों के बीच छोड़ा जाता है। भीमनगर के बाद कोसी निर्मली से उत्तर पिपराही के पास तिलयुगा से संगम कर आगे बढ़ती है और घोघरडीहा रेलवे स्टेशन के पास तरडीहा नामक स्थान पर भूतही बलान और बलान की सम्मिलित धाराएँ कोसी में आ मिलती हैं। दोनों तटबंध समाप्त होते ही पश्चिम से कमला-जीवछ नदी तथा पूरब से धेमुरा की धारा से कोसी का संगम होता है। यहाँ से कोसी पूरब की ओर बढ़ती है तथा रास्ते में घघरी के प्रवाह को अपनी चपेट में लेते हुए मानसी-सहरसा रेलवे लाइन को पार कर कुरसेला के पास गंगा नदी में मिल जाती है। भीमनगर से कुरसेला तक का कोसी का यह प्रवाह-मार्ग प्रायः 200 कि.मी. का है। (कोसी की धाराओं और वर्तमान प्रवाह-मार्ग से संबंधित सूचनाएँ दिनेश कुमार मिश्र की पुस्तक *कोसी नदी की कहानी* तथा ओमप्रकाश भारती की पुस्तक *नदियाँ गाती हैं* में वर्णित विवरण के आधार पर दी गई हैं।)

मार्ग-परिवर्तनशीला होने के कारण विभिन्न कालखंडों में कोसी के प्रवाह-मार्ग भिन्न-भिन्न रहे हैं। इन प्रवाह-मार्गों के अवशेष आज भी कोसी की विभिन्न छाड़न धाराओं के रूप में मौजूद हैं। दिनेश कुमार मिश्र ने अपनी पुस्तक *कोसी नदी की कहानी : दुइ पाटन के बीच में* (2006 ई.) में पूरब से पश्चिम इन पंद्रह धाराओं की पहचान निम्नांकित नामों से की है—परमान या पनार धारा, भेंसना कोसी, कजरी/कारी या काली कोसी, दुलारदेई या सौरा कोसी, कमला कोसी, लिबरी कोसी, धमदाहा कोसी, हिरन कोसी, धौस कोसी, लोरम कोसी, धंसान कोसी, तिलावे कोसी, धेमुरा धार, सोहराइन कोसी तथा तिलयुगा।

कोसी का वर्तमान प्रवाह-मार्ग तटबंध के भीतर प्रारंभ में बैती (पश्चिमी) और धेमुरा (पूर्वी धारा) की धाराओं का है। जो इसकी 1954 ई. की स्थिति है। इसके पहले

1922 ई. में कोसी का प्रवाह-मार्ग परवाने धारा थी, जिसके कारण सहरसा-सुपौल का क्षेत्र कोसी के पश्चिम में था। 1892 ई. में कोसी का प्रवाह-मार्ग इसकी सुरसर धारा थी, जिसके कारण मधेपुरा का भी एक बड़ा हिस्सा कोसी के पश्चिम था। 1840 ई. में कोसी का प्रवाह-मार्ग इसकी हड़या धारा थी, जिसके कारण मधेपुरा का संपूर्ण क्षेत्र इसके पश्चिम में था। 1807 ई. में लच्छा धार, 1770 में लिबरी धार, 1737 में काली कोसी और 1704 ई. में सउरा धार इसका प्रवाह-मार्ग रहीं, जिसके कारण पूर्णिया और कटिहार का भी एक बड़ा हिस्सा कोसी के पश्चिम में रहा। इसी तरह कोसी के गंगा में संगमन का क्षेत्र भी भागलपुर के सामने गंगा के बाएँ किनारे स्थित शिवकुंड (खरीक रेलवे स्टेशन के पास) से लेकर मनिहारी (कटिहार) तक लगभग 70 मील विस्तृत है।

मिथक एवं किंवदंती

मिथकों में कोसी को पुण्यवती सुरसरिता कहा गया है और इसके जन्म की अनेक कथाएँ मिलती हैं। *रामायण* के अनुसार कोसी (कौशिकी) ऋषि विश्वामित्र की बहन सत्यवती है, जो अपने पति ऋचीक ऋषि के निधन के पश्चात् उनका अनुगमन करते हुए सशरीर स्वर्ग में गई और 'कौशिकी' नामक नदी के रूप में परिणत हो गई। कोसी के पितृवंश के संदर्भ में मिथक अलग-अलग कहानियाँ कहते हैं और लोक किंवदंतियों में भी कोसी को लेकर अनेक धारणाएँ प्रचलित हैं।

कोसी के हिमालय-पुत्री तथा देवन ऋषि की कन्या होने की धारणाएँ प्रचलित हैं। एक मान्यता के अनुसार कोसी कुँवारी है और इसीलिए इतनी उच्छृंखल है, जिसे नियंत्रित करने के लिए सिंदूर से उसे डराने की परंपरा रही है। इस कुँवारी कोसी से शादी करने के लिए उत्कण्ठित रैया रणपाल और रन्नू सरदार जैसे वीर बहादुर चरित्र भी लोकसाहित्य में मौजूद हैं। लेकिन दूसरी तरफ इसे शादीशुदा मानने के लोकविश्वास भी हैं। एक लोककथा के अनुसार यह ऋचीक ऋषि की पत्नी है और इसके तीन पुत्र भी हुए। बड़े पुत्र सुनव को ऋचीक ने यज्ञ में मानव बलि के लिए राजा सल्फ को दान कर दिया। शोकाकुल कौशिकी के नेत्रों से आँसुओं की धारा बह चली और यही नदी-रूप में परिणत हुई। लोक में इसके रन्नू सरदार, झिमला मल्लाह और सिंहेश्वरी महादेव की ब्याहता होने के उल्लेख भी मिलते हैं।

एक मान्यता के अनुसार कोसी की सातों धाराएँ सगी बहनें हैं। भोट प्रदेश (नेपाल) में प्रचलित कथा के अनुसार दूध कोसी ही मुख्य कोसी है, जिसका विवाह (संगम) अरुण कोसी से होता है।

पुराण-शास्त्रीय संदर्भ

पुराणशास्त्रों में कोसी का उल्लेख 'कौशिकी' के रूप में मिलता है। इस नदी के भौगोलिक वर्णन तो मिलते ही हैं, इसका मानवीकरण भी किया गया है। *वाल्मीकीय*

रामायण (1, 34, 7-11), *महाभारत* (आदिपर्व, 71, 30) *मार्कण्डेय पुराण* और *विष्णु पुराण* (4, 6, 12-16) में कोसी (कौशिकी) के जन्म की विचित्र कथाएँ मिलती हैं। वे कथाएँ विश्वसनीय हैं या नहीं, यह अलग बात है; लेकिन इनमें कोसी की चर्चा का सीधा अर्थ यह निकलता है कि इन कृतियों के रचना-काल के समय कोसी अस्तित्ववान थी, पुण्यवती मानी जाती थी और सबसे बढ़कर यह कि इसके तटों पर लोगों का निवास था, राज्य भी बसे हुए थे।

कौशिकी तट पर विश्वामित्र² तथा विभांडक और उनके पुत्र शृष्यशृंग³ के आश्रम थे। कौशिकी तथा कौशिकी-क्षेत्र में निम्नांकित तीर्थ थेकुशिकाश्रम, कौशिकी, चंपकारण्य, ज्येष्ठिल, कन्यासंवेद्य, निश्चिरा-संगम, वसिष्ठाश्रम, देवकूट शिखर, कौशिकहृद, वीराश्रम, अग्निधारा, पितामहसर, कुमारधारा, गौरीशंखर-शिखर, स्तनकुंड, ताम्राण, नंदिनी कूप, कालिकासंगम, उर्वशीतीर्थ, कुंभकर्णाश्रम तथा कोकामुख।⁴ इंद्र के नेतृत्व में ऋषियों एवं राजाओं का एक दल प्रभास तीर्थ से यात्रा आरंभ करके नाना तीर्थों का भ्रमण करते हुए कौशिकी-तीर्थ भी आया था। इस दल में भृगु, वसिष्ठ, गालव, कश्यप, गौतम, विश्वामित्र, जमदग्नि, अष्टक, भारद्वाज, अरुंधती और बालखिल्य ऋषि थे तथा राजाओं में शिव, दलीप, नहुष, अंबरीष, ययाति, धुंधुमार, पुरु आदि सम्मिलित थे।⁵ *पद्मपुराण*, *वराहपुराण*, *मत्स्यपुराण*, *ब्रह्मांडपुराण*, *वायुपुराण*, *वामनपुराण*, *वायुपुराण*, *नारदीयपुराण*, *हरिवंश पुराण* एवं *विष्णुपुराण* तथा कालिदासकृत *कुमारसंभव* में भी कोसी नदी का नामोल्लेख और इसके विविध प्रसंगों का वर्णन मिलता है। पौण्ड्रराज वासुदेव सहित कौशिकीकच्छ के सभी राजाओं को भीम ने पराजित किया था।⁶ पंडित हवलदार त्रिपाठी 'सहृदय' ने अपनी पुस्तक *बिहार की नदियाँ* (1977 ई.) में सांस्कृतिक भूगोल के अध्येताओं के लिए कौशिकी-तीर्थों की आधुनिक पहचान को एक चुनौतीपूर्ण कार्य माना है, तथापि उन्होंने काव्य-पुराणों के वर्णन के आधार पर इन तीर्थों के संभावित स्थल इंगित करने के प्रयत्न किए हैं।

कोकामुख तीर्थ (वराहक्षेत्र) और बद्री क्षेत्र के तीर्थों का विशद वर्णन *वराहपुराण* (अध्याय 140, श्लोक 12-90 तथा अध्याय 141, श्लोक 1-52) में प्राप्त होता है, जिसके अंतर्गत निम्नांकित तीर्थों के नामोल्लेख और स्थिति संकेत किए गए हैंजलबिन्दु, विष्णुधारा, विष्णुपद, विष्णुसर, सोमतीर्थ, तुंगकूट, अग्निसर, ब्रह्मसर, धेनुवट, धर्मोद्भव, कोटिवट, पापप्रमोचन, यम व्यसनक, मातंगाश्रम, वज्रभव, शुकुरुद्र, द्रष्टांकुर, विष्णुतीर्थ, त्रिसोतस, मत्स्यशिला, वराहतीर्थ, ब्रह्मकुंड, अग्निमत्स्यपद, इंद्रलोक, पंचशिख, वेदधार, द्वादशादित्य कुंड, लोकपाल, स्थल कुंड, सोमसमुद्भव, सोमगिरि, उर्वशी, मानसोद्भेद और सोमाभिषक। कालिदास के काव्य *कुमारसंभव* (सर्ग 6, श्लोक 33) में भी कौशिकी तट को इंद्र, विष्णु, ब्रह्मा और शिव देवताओं के पारस्परिक

मिलन का पूर्व निर्दिष्ट स्थल बताते हुए लिखा गया है कि कौशिकी तट पर साक्षात् भगवान शिव का निवास है।

कोसी अंचल

कोसी अंचल से तात्पर्य कोसी नदी की विभीषिका का साक्षी रहे भू-क्षेत्र से है। मार्ग परिवर्तनशीला कोसी अपनी छाड़न धारा परमान से लेकर तिलयुगा तक हजारों वर्षों से बहती आई है और इन धाराओं के बीच के भू-क्षेत्र का निर्माण और ध्वंस करती रही है। इस दृष्टि से 1964 ई. में संपूर्ण तटबंध निर्माण के बाद निर्धारित कोसी के वर्तमान प्रवाह-मार्ग के पूरब के क्षेत्र को हम कोसी अंचल के नाम से अभिहित कर सकते हैं, जिसकी पूर्वी सीमा महानंदा नदी का प्रवाह-मार्ग है, जबकि दक्षिणी सीमा गंगा नदी का प्रवाह-मार्ग। अंचल की उत्तरी सीमा भारत-नेपाल की सीमा भी है। कोसी अंचल के इस सीमांकन में प्रशासनिक दृष्टि से बिहार के पूर्णिया और सहरसा प्रमंडल के अंतर्गत आनेवाले सात जिले शामिल हैं—कटिहार, पूर्णिया, अररिया, किशनगंज, मधेपुरा, सहरसा और सुपौल।

चूँकि कोसी नदी का प्रवाह-मार्ग परिवर्तनशील रहा है, इसलिए भिन्न-भिन्न समयों में इस अंचल के भू-भाग भिन्न-भिन्न शासकों द्वारा शासित होते रहे हैं, क्योंकि कोसी के प्रवाह-मार्ग ने प्रायः राज्यों की सीमा-रेखा के रूप में कार्य किया है। प्राचीन काल में कोसी नदी का पश्चिमी हिस्सा कभी विदेह तो कभी अंग राज्यों का हिस्सा रहा है तथा वहाँ के शासकों द्वारा शासित हुआ है, जबकि इसका पूर्वी हिस्सा कालक्रम में कभी स्वतंत्र रहा तो कभी बंगाधिपतियों द्वारा शासित हुआ है। किसी-किसी काल में यह अंचल सम्मिलित शासकों द्वारा भी शासित हुआ है।

याज्ञवल्क्य प्रणीत *शतपथ ब्राह्मण* (शुक्ल यजुर्वेद, अध्याय 1) की एक कथा के अनुसार आर्यों के एक दल ने विदेह माथव के नेतृत्व में अपने कुल पुरोहित गोतम रहूगण के साथ सरस्वती नदी के तट से पूर्व दिशा की ओर प्रस्थान किया। वे लोग वैश्वानर अग्नि को सम्मुख रखकर उसके पीछे चलते हुए पूरब की ओर बढ़े। अग्नि सामने पड़नेवाले वनों को जलाते और स्रोत-नदियों को सुखाते हुए आगे बढ़ती गई, किन्तु हिमालय की ओर से आनेवाली अत्यंत बर्फीली नदी 'सदानीरा' तक आकर रुक गई, उसे सुखा नहीं सकी। मथवा के यह पूछने पर कि अब हम कहाँ जाएँ, अग्नि ने कहा "तस्या नद्याः प्राग्देशः सर्वोपि इदानीं ब्राह्मणवासः.....यतो वैश्वानराग्निनास्वादितम् तस्तत्स्थानमपवित्रम् (1-4/1-15) अर्थात् नदी के पूर्व देशों में सब जगह ब्राह्मण वास करने लगे हैं.....लेकिन वैश्वानर अग्नि द्वारा अनास्वादित वे स्थान अपवित्र हैं। प्रतिष्ठित पुरातत्त्वज्ञ राखालदास बनर्जी और महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने सदानीरा की पहचान कौशिकी के रूप में की है। (*इंडियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली*, मार्च 1945)

इस प्रकार आर्यों ने कौशिकी (कोसी) के पश्चिमी तट पर पहुँचकर उत्तरी बिहार में तत्कालीन आर्यवर्त की पूर्वी सीमा निर्धारित कर दी और अपने राज्य को 'स्वदेश' की संज्ञा दी। कोसी के पूरब घने जंगल थे, भूमि उर्वर थी, लेकिन वहाँ आर्यतर जातियों का निवास था, इसलिए बढ़ती जनसंख्या के कारण वासयोग्य और कृषियोग्य भूमि के अभाव के बावजूद आर्यजन कोसी को पार करने के लिए तैयार नहीं थे, लेकिन पेट की भूख ने उन्हें 'स्वदेश' का परित्याग कर बंधु-बंधवों समेत बाल-बच्चों को कंधे पर उठा कोसी लाँघने को विवश कर ही दिया; और इस प्रकार आर्यजन वास के लिए प्रतिबंधित सीमा का अतिक्रमण कर पूर्वी क्षेत्र में कारतोया नदी तक फैल गए। *हरिवंशपुराण* के रचयिता ने इसका बड़ा ही मार्मिक चित्रण किया है

स्वदेशोभ्यः परिभ्रष्टा निःसारा सहबंधुभिः ।

नरा सर्वे भवथ्यन्ति तदाकालपरिक्षयात् ॥

ततः स्कन्धै समादाय कुमारान विद्रुताभयात् ।

कौशिकीं प्रतरिष्यन्ति नरा क्षुद्भयपीडिताः ॥

वेदपुराणशास्त्रों से प्राप्त राजनीतिक इतिहासवृत्त के अनुसार विवश्वान मनु के ज्येष्ठ पुत्र इक्ष्वाकु ने कोशल राज्य की स्थापना की थी, जिनके दो पुत्रों निमि और नाभनेदिष्ट ने बाद में क्रमशः मिथिला और वैशाली राज्य स्थापित किए। पार्जितर द्वारा तैयार प्राचीन भारतीय राजवंशावली के अनुसार मनु की पुत्री इला से पुरूरवा, नहुष, ययाति, अणु, पुरु आदि सुप्रसिद्ध सम्राटों की चंद्रवंशावली ने प्राचीन भारत में शासन किया। इसी चंद्रवंश में राजा अणु के पुत्र तितिक्षु ने आणव राज्य की स्थापना की थी, जिसे पुराणों में प्राच्य राज्य की संज्ञा दी गई है।

आणव राजवंशावली का सर्वाधिक प्रतापी राजा बली हुआ। बली का कोई औरस पुत्र नहीं था। राजा बली की स्वीकृति से रानी सुदेषणा ने नियोग द्वारा अंधे महर्षि दीर्घतमा से पाँच क्षेत्रज पुत्र पैदा किए, जो क्रमशः अंग, बंग, पुंड्र, सूक्ष्म या सुह्र और कलिंग के नाम से प्रसिद्ध हुए। इन्होंने कालक्रम में अपने नामों पर पाँच राज्यों की स्थापना कर प्राच्य राज्य का विस्तार उत्तरी बंगाल और ओड़िशा तक फैला दिया। इतिहासकारों और पुरातत्त्वज्ञों ने अंग की वर्तमान पहचान पुराने भागलपुर प्रमंडल (जिसमें वर्तमान पूर्णिया एवं सहरसा प्रमंडल शामिल थे), पुंड्र की पहचान महानंदा नदी से कारतोया नदी के बीच के भूक्षेत्र, बंग की पहचान पुराने ढाका प्रमंडल, सूक्ष्म की पहचान वर्तमान पश्चिम बंगाल स्थित मुर्शिदाबाद-वीरभूमि के जिलों (राढ़ अंचल) तथा कलिंग की पहचान वर्तमान ओड़िशा के पूर्वोत्तर भूक्षेत्र के रूप में की है।

रामायण-काल में भी कोसी अंचल अंग राज्य के अधीन ही था, जिसके राजा लोमपाद थे। राजा दशरथ ने पुत्रेष्टि यज्ञ के लिए कौशिकी तट निवासी विभांडक

गौतम मुनि के पुत्र ऋष्यशृंग की उपलब्धता के लिए अंगराज लोमपाद की ही सहायता ली थी। महाभारत-काल में कोसी अंचल अंग से स्वतंत्र कौशिकीकच्छ राज्य के रूप में वर्णित है, जिसके पश्चिम में मिथिला और पूरब में पुंड्र की अवस्थिति थी। युधिष्ठिर के राज्याभिषेक के बाद पूर्वी राज्यों के दिग्विजय-अभियान के क्रम में भीम ने क्रमशः मिथिला और उसके उत्तर के सात किरात राज्यों, गंगा के दक्षिण स्थित मगध, अंग, मोदागिरि और झारखंड के पर्वतीय राज्यों, गंगा के उत्तर स्थित कौशिकीकच्छ के राजा महायश (महौजा) तथा उसके पूरब स्थित पुंड्रवर्द्धन के बलशाली राजा वासुदेव को पराजित कर बंग देश की ओर प्रस्थान किया था। पार्श्वर ने पूर्णिया जिला के कोसी नदी से महानंदा नदी के बीच के भूभाग को कौशिकीकच्छ माना है, लेकिन गौड़बंगाल के कुछ इतिहासकार इसके अंतर्गत मधेपुरा-सहरसा जिलों के पूर्वी भाग, सोनबरसा राज तथा महानंदा-गंगा संगम के सारे पश्चिमी भूक्षेत्र को शामिल मानते हैं। इस प्रकार महानंदा नदी के पश्चिम स्थित मालदह जिले का सारा क्षेत्र इसके अंतर्गत था, जो कि 1835 ई. में मालदह जिला-निर्माण के पूर्व तक पूर्णिया का ही हिस्सा था। भूगोलविद् नंदलाल दे ने भी अपनी पुस्तक *ज्योग्राफिकल डिक्शनरी ऑफ एंशिप्ट एंड मेडिवल इंडिया* में लिखा है कि वर्तमान पूर्णिया जिला ही प्राचीन कौशिकीकच्छ है, जिसमें त्रिवेणी-संगम तथा वराह क्षेत्र तक के पर्वतीय भूभाग भी सम्मिलित थे। (पृ. 161)

कालांतर में पुंड्रवर्द्धन के राजाओं ने अपनी सीमा का विस्तार करके कौशिकीकच्छ पर भी अपना आधिपत्य कायम कर लिया। तभी तो *ऐतरेय ब्राह्मण* (रचनाकाल : ई. पू. 1000-1500) में पुंड्रजनों को विश्वामित्र की संतान कहा गया है। पुंड्रवर्द्धन राज्य की उक्त अवस्थिति की पुष्टि बौद्ध स्रोतों तथा मौर्यकालीन (महास्थानगढ़, बोगरा से प्राप्त अभिलेख) एवं गुप्तकालीन (दामोदरपुर से प्राप्त बुधगुप्त एवं देवगुप्त के ताम्रलेख) अभिलेखों से भी होती है।

बुद्ध-काल में गंगा नदी के उत्तर कमला नदी और कोसी नदी के बीच का क्षेत्र अंगुत्तराप के नाम से जाना जाता था,⁷ जो अंग महाजनपद का हिस्सा था। गौतम बुद्ध (623-543 ई.पू.) द्वारा इस क्षेत्र की यात्रा के समय अंग शिशुनागवंशी मगधराज बिंबिसार (शासन काल 585-551 ई.पू.) के अधीन था। बुद्ध द्वारा अंगुत्तराप के 'आपण निगम' नामक स्थान पर महीने भर के प्रवास का प्रसंग मिलता है (*मज्झिम निकाय*, 2, 1, 4 तथा *महावग्गो*, 6, 5, 2, 15), जिसके अनुसार वे भद्रिया से गंगा पारकर आपण गए थे और जातिवन में ठहरे थे, जहाँ पोतलीय नामक गृहस्थ को दीक्षित किया था और केणियवाह ग्राम के केणिय नामक जटिल ने 1200 बौद्ध-भिक्षुओं को भोजन पर बुलाया था और मैरेय-पान कराया था। केणियवाह, जातिवन, आपण निगम और भद्रिया की आधुनिक पहचान क्रमशः सहरसा जिले के कंदाहा, देवनवन, वनगाँव और भित्तिया गाँव के रूप में की गई है।⁸

बुद्ध द्वारा कोसी नदी को पार कर पूर्व देशों की यात्रा का कोई भी साक्ष्य हमें प्राप्त नहीं होता, इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि उनके समय में कोसी का प्रवाह-मार्ग इसकी हड़या धार अथवा इसके पूर्व की कोई अन्य धारा रही होगी। शिशुनाग राजवंश (642-413 ई.पू.) के बाद क्रमशः नंद राजवंश (413-322 ई.पू.), मौर्य-राजवंश (322-185 ई.पू.), शुंग-राजवंश (185-73 ई.पू.), कण्व-राजवंश (73-28 ई.पू.) और आंध्र-सातवाहन कुल (28-78 ई.पू.) प्रभुत्वशाली हुए, जिनका शासन अंग, मिथिला और पुंड्रवर्द्धन पर भी रहा। इसके बाद का गुप्त साम्राज्य से पूर्व तक का काल विदेशी आक्रमण और स्थानिक शक्तियों के उदय के कारण प्रायः राजनीतिक अस्थिरता का रहा है। भूगोलवेत्ता प्टोलेमी और मेगास्थनीज (भारत यात्रा : 315 ई.पू.) के मतानुसार महानंदा से पश्चिम गंडकी नदी तक के क्षेत्र में मुरुंड, किरात और भारशिव-नाग जनजातियों की उपस्थिति रही है। किसी केन्द्रीय नेतृत्व के अभाव में मिथिला और पुंड्र क्षेत्र में इन जनजातियों के शासन की संभावना से इनकार नहीं किया जा सकता। भारशिव-नाग वंश ने 320 ई. तक प्रायः 200 वर्षों तक शासन किया है।⁹ यत्किंचित शक-शासन भी इस क्षेत्र में अवश्य रहा होगा, अन्यथा शक संवत को यहाँ मान्यता न मिलती।

गुप्त काल (320-593 ई.) में उत्तरी बिहार दो भुक्तियों (क्षेत्रों) में बँटा हुआ थातीरभुक्ति (प्रायः संपूर्ण उत्तरी बिहार) तथा पुंड्रवर्द्धन भुक्ति (वर्तमान सहरसा और पूर्णिया प्रमंडलों सहित उत्तरी बंगाल)।¹⁰ *वृहद विष्णुपुराण* (रचना काल : गुप्तोत्तर काल) के मिथिला खंड में तीरभुक्ति शब्द का प्रयोग करते हुए इसकी सीमाओं का निर्देश इस प्रकार किया गया हैपूर्व में कौशिकी, पश्चिम में गंडकी, दक्षिण में गंगा और उत्तर में अरण्य प्रदेश।¹¹ इस स्पष्ट सीमांकन के रहते हुए भी यह दुःखद है कि मिथिला (तीरभुक्ति) की सीमा को पूर्व में महानंदा नदी तक ले जाने का दुराग्रह पाला जाता है। लेकिन इसमें कोई संदेह नहीं कि कोसी का प्रवाह-मार्ग बदलते रहने के कारण वर्तमान कोसी अंचल के अनेक हिस्से कभी-न-कभी मिथिला के शासकों द्वारा अवश्य शासित हुए होंगे।

गुप्त साम्राज्य के पतन के बाद पूर्वोत्तर बिहार और असम-बंगाल के इस क्षेत्र में स्थानिक वर्चस्व की असंख्य लड़ाइयाँ लड़ी गईं और यहाँ राजनीतिक अराजकता का माहौल रहा। यहाँ तक कि हर्षवर्द्धन की मृत्यु (647 ई.) के बाद लगभग 75 वर्षों तक का इतिहास प्रायः तिमिराच्छन्न है। एक लंबे समय तक इस क्षेत्र में चले सत्ता-संघर्ष में परवर्ती गुप्तराजवंश, मौखरी राजकुल, पुष्पभूति (वर्द्धन) राजकुल, बंगाल का राजा शशांक, बांग-हुएन्-त्से (तिब्बती आक्रमणकारी), कामरूप-भूप हर्ष, कन्नौज-राज यशोवर्मन, कश्मीरेश्वर ललितादित्य मुक्तापीड़, पाल, प्रतिहार, राष्ट्रकूट, चंदेल, चालुक्य, चेदि (कल्चुरि) आदि भूपति शामिल रहे हैं। पाल राजवंश एक लंबे अंतराल

(750-1197 ई.) तक जरूर शासन में बना रहा, लेकिन छीना-झपटी और लूट-खसोट बदस्तूर जारी रहे थे।

अंततः 1097 ई. में कोसी के पश्चिम मिथिला में नान्यदेव द्वारा कर्णाट राजवंश की स्थापना की गई। इस वंश के अंतिम शासक हरिसिंह देव (शासनकाल : 1307-1324 ई.) थे। नान्यदेव के पुत्र गंगदेव (शासनकाल : 1147-1187 ई.) के काल में कोसी का प्रवाह-मार्ग इसकी सउरा धार थी और यह तिरहुत (मिथिला) और बंगाल की सीमा रेखा का काम करती थी।¹² इस समय बंगाल में सेन वंश का शासन था। 1324 ई. में गियासुदीन तुगलक की मिथिला-विजय के पश्चात् यहाँ क्रमशः दिल्ली, जौनपुर तथा पुनः दिल्ली के अधीन अर्द्ध-स्वतंत्र राजसत्ता ओइनवार राजवंश ने सँभाली, जो 1526 ई. तक राज करता रहा। इस वंश का सर्वाधिक लोकप्रिय राजा शिवसिंह (1413-1416 ई.) था, जिसकी कीर्ति की विरुदावली मैथिली कवि विद्यापति ने गाई है। इस दौरान कोसी के पूर्वी भाग पर बिहार-बंगाल के मुस्लिम शासकों का अधिपात्य रहा, जो दिल्ली के अधीन थे, लेकिन स्वतंत्र होने के लिए लड़ाइयाँ लड़ते रहते थे और यदा-कदा स्वतंत्र भी हो जाया करते थे। 1576 ई. में पूरी तरह बंगाल दमन के पश्चात् ये क्षेत्र मुगल सल्तनत के अधीन हो गए और बाद में ईस्ट इंडिया कंपनी को हस्तांतरित हो गए। इसके बाद का कोसी अंचल का इतिहास प्रायः सुस्पष्ट और सुलेखित है।

आधुनिक संदर्भ

कोसी क्षेत्र का पहला प्रामाणिक नक्शा मेजर जेम्स रेनेल नामक एक अंग्रेज सर्वेयर द्वारा पहली बार 1779 ई. (*मेमोयर्स ऑफ द मैप ऑफ हिन्दुस्तान*, 1788 ई.) में तैयार किया गया था, जिसमें कोसी नदी के तत्कालीन प्रवाह-मार्ग की आधिकारिक जानकारी मिलती है। इसके बाद उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ (1809-10 ई.) में अंग्रेज भूगोलवेत्ता फ्रांसीस बुकानन द्वारा तैयार किए गए *एन एकाउंट ऑफ द डिस्ट्रिक्ट ऑफ पूर्णिया* को याद करना उचित होगा, जिसमें उन्होंने कोसी नदी की पूर्व और तत्कालीन धाराओं के अध्ययन के साथ-साथ कोसी अंचल के जन-जीवन पर एक गहन सर्वेक्षण प्रस्तुत किया था।

इसके पश्चात् रॉबर्ट मांट गुमरी मार्टिन की पुस्तक *द हिस्ट्री, पॅरिक्विजिज , ट्रेपेग्री एंड स्टैटिस्टिक्स ऑफ ईस्टर्न इंडिया* (1838 ई.) तथा डब्ल्यू.डब्ल्यू. हंटर द्वारा लिखित पुस्तक शृंखला 'स्टैटिस्टिकल अकाउंट्स ऑफ बंगाल' के पंद्रहवें खंड (*डिस्ट्रिक्ट ऑफ मुंगेर एंड पूर्णिया*, 1877 ई.) में कोसी नदी और इस क्षेत्र के बारे में पर्याप्त विवरण उपलब्ध होते हैं। इस क्रम में *जर्नल ऑफ एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल* (दिसंबर, 1895 ई.) में प्रकाशित एफ.ए. शिलिंगफोर्ड और चार्ल्स इलियट के 'ऑन चेन्जेज इन कोर्स ऑफ कुसी रिवर एंड द प्रोबैबल डेन्जर्स

अराइजिंग फ्रॉम देम' शीर्षक लंबे लेख भी उल्लेखनीय हैं। शिलिंगफोर्ड का लेख 1895 ई. में ही बैप्टिस्ट मिशन प्रेस, कोलकाता से *कोसी रिवर* के नाम से पुस्तकाकार भी प्रकाशित हुआ था।

बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में *जर्नल ऑफ एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल* (सितंबर 1908 ई.) में प्रकाशित एफ.सी. हर्स्ट का आलेख 'द कोसी रिवर एंड सम लेशंस फ्रॉम इट' कोसी नदी पर एक महत्वपूर्ण अध्ययन है। जे. बिर्ने द्वारा तैयार किए गए *डिस्ट्रिक्ट गजेटियर ऑफ भागलपुर* (1911 ई.) तथा एल.एस.एस. ओ'मैली द्वारा तैयार किए गए *डिस्ट्रिक्ट गजेटियर ऑफ पूर्णिया* (1911 ई.) में कोसी नदी और उसके तटवर्ती जीवन के संदर्भ मिलते हैं। 1946 ई. में प्रकाशित हरिनाथ मिश्र की पुस्तक *द कोसी प्रॉब्लेम* भी कोसीजनित समस्याओं को समझने में सहायता करती है।

भारत की स्वतंत्रता के बाद बिहार सरकार द्वारा पी.सी. राय चौधुरी द्वारा तैयार किए गए *पूर्णिया* और *सहरसा* शीर्षक से इन जिलों के गजेटियर क्रमशः 1963 और 1965 ई. में प्रकाशित किए गए, जिनमें कोसी अंचल का सांगोपांग सर्वेक्षण और अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। *सहरसा* गजेटियर में कोसी प्रोजेक्ट के मुख्य अभियंता देवेश मुखर्जी की सहायता से तैयार किया गया 'द कोसी' शीर्षक अध्याय यहाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय है, जो कोसी नदी की भौगोलिक स्थिति और तज्जनित समस्याओं एवं उनके समाधान के प्रयत्नों पर प्रकाश डालता है।

स्वातंत्र्योत्तर काल में कोसी नदी पर पहली सुविचारित कृति *कोसी* (1953 ई.) नाम से ललितेश्वर मल्लिक द्वारा प्रस्तुत की गई, जिसमें उन्होंने कोसी की भौगोलिक प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालते हुए कोसी अंचल के बीहड़ जन-जीवन और समस्याओं को सामने रखा। इसका दूसरा संशोधित संस्करण भी 1961 ई. में प्रकाशित हुआ। निजी तौर पर किए गए कोसी नदी के सर्वेक्षणों में *बिहार की नदियाँ*, प्रथम खंड (1977 ई.) में पंडित हवलदार त्रिपाठी 'सहृदय' द्वारा कोसी और उसकी सहायक नदियों पर किया गया भौगोलिक और सांस्कृतिक सर्वेक्षण सर्वाधिक महत्वपूर्ण है।

कोसी प्रोजेक्ट के नाम से 1981 ई. में प्रकाशित निरंजन पंत की पुस्तक सिंचाई और प्रशासनिक दृष्टि से कोसी प्रोजेक्ट का अविकल अध्ययन प्रस्तुत करनेवाली एक महत्वपूर्ण कृति है। विजयशंकर पांडेय और परमेश्वर गोयल द्वारा 1992 ई. में प्रस्तुत किए गए *महाकोशी* (एक सांस्कृतिक सर्वेक्षण) का उल्लेख भी समीचीन होगा। विजयशंकर पांडेय के संपादन में 1995 ई. में *कोशी क्षेत्र : आर्थिक सर्वेक्षण* नामक एक अन्य पुस्तक भी प्रकाश में आई। आपदा-प्रबंधन की दृष्टि से विभिन्न नदियों के गहन अध्येता दिनेश कुमार मिश्र की पहली पुस्तक *बाँदिनी महानंदा* (1994 ई.) में पूर्णिया अंचल और महानंदा नदी के अध्ययन-क्रम में

प्रकारांतर से कोसी नदी की भयावह स्थितियों का भी आकलन किया गया है।

इक्कीसवीं सदी के प्रारंभिक वर्षों में कोसी नदी, कोसी गीत और कोसी के तटवर्ती जनजीवन को लेकर एक महत्वपूर्ण कार्य ओमप्रकाश भारती ने *नदियाँ गाती हैं* (2002 ई.) के रूप में प्रस्तुत किया है। 2005 ई. में प्रकाशित *कोशी अंचल की अनमोल धरोहरें* नामक पुस्तक में हरिशंकर श्रीवास्तव 'शलभ' ने कोसी अंचल के ऐतिहासिक, साहित्यिक और सांस्कृतिक संदर्भों को आकलित किया है। इस दिशा में अद्यतन प्रयत्न दिनेश कुमार मिश्र की पुस्तक *कोसी नदी की कहानी : दुइ पाटन के बीच में...* (2006 ई.) के रूप में सामने आया है, जिसे लोक विज्ञान संस्थान, देहरादून द्वारा प्रकाशित किया गया है। इसमें कोसी नदी और अंचल के भौगोलिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, राजनीतिक अध्ययन के साथ-साथ यहाँ की त्रासद स्थितियों के वैज्ञानिक और सुविचारित समाधान की चिन्ता भी है।

साहित्य-संदर्भ

हजारों वर्षों से जिस नदी की धाराएँ निरंतर परिवर्तनशील रही हैं, उस नदी की धाराओं के साथ गतिशील जीवन-जगत की अनुभूतियों का अवगाहन साहित्य के माध्यम से किया जाना सचमुच न केवल दिलचस्प वरन् महत्वपूर्ण भी है। लेकिन विध्वंसकारी कोसी ने अपने तटवर्ती जीवन-जगत के साथ संभवतः अधिकांश साहित्यिक विरासत को भी प्रायः निगलने का काम ही किया है। कोसी अंचल के निकटवर्ती नालंदा और विक्रमशिला विश्वविद्यालयों के विध्वंस (1197 ई.) के कारण भी इस क्षेत्र की ज्ञान और साहित्य विषयक विरासत नष्ट हुई होगी। इसलिए कोसी अंचल के आरंभिक दाय का ही नहीं, वरन् इसके अस्तित्व मात्र का ऐतिहासिक निर्धारण भी प्रायः कठिन है, तथापि *रामायण*, *महाभारत* और पुराणों में इसकी और इसके तट पर स्थित 21 तीर्थों की चर्चा इसकी प्राचीनता, महत्ता और इसके जीवंत तटवर्ती जन-जीवन को पुष्ट करती है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि कोसी नदी की विध्वंसक प्रवृत्ति के बावजूद कोसी अंचल ने अपनी लोकधर्मी सांस्कृतिक इयत्ता को सदैव बरकरार रखा है। जीवट के धनी यहाँ के लोगों ने न केवल कोसी की विकट धाराओं से संघर्ष किया है, उसका अभिशाप और संताप झेला है; वरन् उनके आस-पास जीवन को उसकी भरपूर जीवंतता और खिलदड़ेपन के साथ जिया भी है। कोसी को संबोधित और उससे भी ज्यादा कोसी-केन्द्रित गीतों के अलावा यहाँ का प्रचुर लोकसाहित्य इस बात का प्रमाण है। मिथिला, गौड़-बंगाल और अंग जैसे विशाल साम्राज्यों से घिरा तथा कालक्रम में इनका एक हिस्सा होते हुए भी यह अंचल किसी सांस्कृतिक आधिपत्य का शिकार नहीं हुआ तो इसके पीछे निश्चय ही कोसी नदी का अपना उच्छृंखल एकच्छत्र साम्राज्य ही रहा है, जिसने निकटवर्ती साम्राज्यों के आधिपत्य को प्रायः

दुर्वह बनाए रखा। यही कारण है कि इस अंचल में एक मिश्रित सांस्कृतिक परिदृश्य नजर आता है, जिसका आधार निस्संदेह लोक-जीवन और उसकी अस्मिता को बचाए-बनाए रखने में सन्निहित है। दूसरी तरफ यह भी उल्लेखनीय है कि प्राचीन काल में पूर्व और मध्य एशिया के यात्रियों और एक समय में नालंदा, विक्रमशिला और ताम्रलिप्त विश्वविद्यालयों के अध्येताओं के लिए कोसी की धाराओं ने मार्गदर्शन का काम किया है।

कोसी अंचल के लोकगीत, लोक-गाथाओं और लोकदेवों पर पर्याप्त अनुसंधान कार्य भी हुए हैं, लेकिन जहाँ तक कोसी-केन्द्रित गीतों की बात है, इन्हें संगृहीत करने का काम पहली बार ब्रजेश्वर मल्लिक ने किया, जिन्होंने 1942 ई. में पैंतालीस गीत संकलित किए, जो *कोसी गीत* के नाम से 1949 ई. में पुस्तकाकार प्रकाशित हुए। बाद में इस पुस्तक का द्वितीय संस्करण *कोसी-लोकगीत* के नाम से 1955 ई. में प्रकाशित हुआ। इस पुस्तक से प्रायः तीस गीतों की पुनः प्रस्तुति *कोशी अंचल की अनमोल धरोहरें* (2005 ई.) में हरिशंकर श्रीवास्तव 'शलभ' द्वारा की गई है।

अंग्रेज विद्वानों में ई.टी. प्रीडो ने 1943 ई. में उन्नीस कोसी गीतों के अंग्रेजी अनुवाद अपनी टिप्पणी के साथ प्रस्तुत किए, जो *मेन इन इंडिया* के मार्च 1943 ई. के अंक में 'मदर कोसी सॉन्स' शीर्षक से प्रकाशित हैं। इसके बाद विभिन्न आलेखों, कृतियों में ब्रजेश्वर मल्लिक और ई.टी. प्रीडो द्वारा संकलित कोसी गीत ही यथासंभव प्रयुक्त और संदर्भित किए जाते रहे। फिर एक लंबे अरसे के बाद 2002 ई. में ओमप्रकाश भारती के *नदियाँ गाती हैं* में कोसी नदी के गीतों का पुनरनुसंधान करते हुए पचास गीत भावानुवाद के साथ प्रस्तुत किए, जिसमें भारती जी ने अपनी भूमिका में प्रकारांतर से कोसी गीतों की पृष्ठभूमि, भाव-संवेदना और रचना-प्रक्रिया का भी विश्लेषण किया है।

कोसी अंचल के विभिन्न भाषाओं के प्रतिष्ठित लेखकों द्वारा भी अपनी रचनाओं में कोसी नदी, अंचल का जन-जीवन, कोसी गीत और लोकसाहित्य के पर्याप्त संदर्भों का उपयोग किया गया है। ऐसे लेखकों में बनफूल, सतीनाथ भादुड़ी, विभूतिभूषण बंधोपाध्याय, केदारनाथ बंधोपाध्याय (बाइला), फणीश्वरनाथ रेणु, मायानंद मिश्र, चंद्रकिशोर जायसवाल, शालिग्राम (हिन्दी), तारिक जमीली (उर्दू), प्रफुल्ल कुमार सिंह 'मौन', साकेतानंद और रमेश (मैथिली) के नाम सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं। इनके अलावा भी ऐसे बहुत से रचनाकार हैं, जिनकी असंख्य रचनाओं में कोसी नदी, जीवन और लोक संदर्भों का संस्पर्श मिलता है। ऐसे ही समय-समय पर विभिन्न अध्येताओं द्वारा कोसी नदी की विभीषिका के प्रति चिन्ता जतानेवाली और उसके समाधान सुझानेवाली रचनाएँ विभिन्न भाषाओं में और देश-विदेश की पत्र-पत्रिकाओं में निरंतर प्रकाशित होती रही हैं तथा नदी-केन्द्रित अध्ययनवाली महत्वपूर्ण पुस्तकों में संकलित होती रही हैं। ऐसी छिटपुट गद्य-पद्य रचनाओं का यदि विधिवत

संकलन-संपादन प्रकाशित करने की दिशा में प्रयत्न किए जाएँ तो निश्चय ही नदी-केन्द्रित लोकसांस्कृतिक अध्ययन के लिए विपुल सामग्री अध्येताओं को प्राप्त हो सकती है।

कोसी अंचल का यह भू-क्षेत्र सिद्ध कवि सरहपा, रीति कवि जयगोविन्द महाराज, सूफ़ी कवि शेख़ किफ़ायत, भक्त कवि लक्ष्मीनाथ परमहंस, संत कवि महर्षि मेंहीं की साहित्यिक-सांस्कृतिक विरासत और परंपरा से समृद्ध रहा है और आधुनिक समय में भी विभिन्न भाषाओं में अंचल के अनेक लेखकों का रचनात्मक अवदान राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय क्षितिज पर रेखांकित हुआ है। प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक द्वारा 'कविता कोसी' पुस्तक शृंखला के माध्यम से कोसी केन्द्रित और कोसी अंचल की साहित्यिक विरासत को क्रमबद्ध रूप से आकलित-संकलित करने का विनम्र प्रयत्न 2007 में शुरू किया गया है, जिसके अंतर्गत अब तक तीन खंड प्रकाशित हो चुके हैं। सुधी पाठकों एवं लेखकों से निवेदन है कि वे भी यथासंभव अपने सुझाव-सहयोग से इस आकलन-यात्रा को समृद्ध-संपुष्ट करने का अनुग्रह करें।

सन्दर्भ

1. बिहार की नदियाँ, प्रथम खंड (हवलदार त्रिपाठी 'सहृदय', प्रथम संस्करण : 1977 ई.) पृ. 339
2. वाल्मीकीय रामायण (1, 63, 15), महाभारत (आदिपर्व, अध्याय 73, श्लोक-16)
3. महाभारत (अध्याय 110, 111 तथा 113)
4. वही (वन पर्व, अध्याय 84, श्लोक 131-158)
5. वही (अनुशासन पर्व, अध्याय 94, श्लोक 5-6)
6. वही (सभा पर्व, अध्याय 30, श्लोक 22)
7. सहरसा (बिहार डिस्ट्रिक्ट गजेटियर्स, पी.सी. राय चौधुरी, 1965 ई.) पृ. 20
8. बिहार की नदियाँ (हवलदार त्रिपाठी सहृदय, प्र. सं. 1977 ई.) पृ. 396-98
9. सहरसा (बिहार डिस्ट्रिक्ट गजेटियर्स, पी.सी. राय चौधुरी, 1965 ई.) पृ. 20-24
10. वही (बिहार डिस्ट्रिक्ट गजेटियर्स, पी.सी. राय चौधुरी, 1965 ई.) पृ. 21
11. वृहद विष्णु पुराण (मिथिला माहात्म्य, द्वितीय सर्ग, श्लोक 5-8)
12. सहरसा (बिहार डिस्ट्रिक्ट गजेटियर्स, पी.सी. राय चौधुरी, 1965 ई.) पृ. 31

सामन्तवाद और साम्राज्यवाद के विरुद्ध सिक्किमी संघर्ष

ए. सी. सिन्हा*

भारत से अंग्रेजी उपनिवेशवाद के पलायन के उपरान्त भी सिक्किम, भूटान और नेपाल के हिमालयी रजवाड़े अपने सामन्ती प्रशासन को बचाने में सक्षम हुए। यहाँ की जनता अत्यन्त ही प्रताड़ित जिन्दगी जी रही थी। नागरिक जीवन का अभाव था; शिक्षा, दवा-दारू की व्यवस्था, सड़कें, समाचार-पत्र का नामोनिशान नहीं था। सत्ता सामन्त फिजूलखर्च और ऐयाशी की जिन्दगी जी रहे थे, तो आम जनता अभाव, अशिक्षा बीमारी, और अत्यन्त ही क्रूर बेगार व्यवस्था से कुचली जा रही थी। सामन्तशाही अत्यन्त ही दमनकारी थी; जनता में भय और आतंक छाया हुआ था। यहाँ तक कि प्रशासन के विरुद्ध आवाज उठाने वाले को जीवित अवस्था में कच्चे चमड़े के थैले में बन्द कर उफनाती नदियों में बहा देना आम बात थी।

इन तीनों रजवाड़ों में सिक्किम सबसे छोटा, विकसित और अंग्रेजों का विशेष कृपापात्र था। यहाँ पर आवागमन के साधन, शिक्षा की व्यवस्था और दवादारू की आपूर्ति की व्यवस्था 20वीं सदी के आरम्भ में ही कर ली गई थी। इसके दक्षिण में भूतपूर्व सिक्किमी भू-भाग दार्जिलिंग, अवस्थित है, जिसे अंग्रेजों ने एक हिल स्टेशन के रूप में 19वीं सदी के मध्य में ही विकसित कर लिया था। सिक्किम और दार्जिलिंग भारत-तिब्बत व्यापार मार्ग पर अवस्थित हैं। इस कारण इनके साधनों का पहले विकास किया गया। स्वाभाविक है कि ऐसी स्थिति में जन जागरण का सूत्रपात भी सर्वप्रथम सिक्किम में ही हुआ। यह जनचेतना प्रायः सामन्तवाद के विरुद्ध प्रकट हुई। परन्तु इस विरोध को साम्राज्यवाद के विरोध का ही एक रूप समझना उचित होगा; क्योंकि उपनिवेशी सरकार के समर्थन के बिना इन रजवाड़ों का अस्तित्व ही समाप्त हो जाता।

* प्रोफेसर ए. सी. सिन्हा, पूर्व आचार्य समाजशास्त्र विभाग, पूर्व संकायाध्यक्ष, पूर्वोत्तर पार्वत्य विश्वविद्यालय, शिलांग, 793022। सम्पर्क : डी7/7331, बसन्त कुंज, नयी दिल्ली, 110070

सिक्किम की ऐतिहासिक और प्रजातीय पृष्ठभूमि

आज का सिक्किम ऐतिहासिक सिक्किम का एक छोटा स्वरूप है। कहते हैं कि करीब 400 वर्ष पहले किरातवंशीय लेप्चा, लिम्बू और मगर समुदाय की जनजातियाँ हिमालयी गुफाओं और कंदराओं में रहती थीं और कन्द-मूल खाती थीं। केन्द्रीय राज्य व्यवस्था का अभाव था; ये जनजातियाँ अपने मुखियाओं के अधीन अपने गाँवों में निवास करती थीं। लेप्चा लोग अपनी भूमि को कन्दराओं का देश (माल्यांग) कहते थे। माल्यांग के पड़ोसी भोट देश (तिब्बती) के लोग इसे 'चावल का प्रदेश' (डेनजांग) के नाम से जानते थे। तिब्बती समुदाय भगवान बुद्ध की भूमि भारतवर्ष को पुण्य भूमि मानता है और विभिन्न बौद्ध धर्मस्थलों का तीर्थाटन करता है। अपने भारत भूमि के तीर्थाटन के क्रम में तीन तिब्बती भिक्षु सिक्किम से गुजरते हुए इसे धर्मदेश बनाने के लिए प्रेरित हुए। कुछ विचार-विमर्श के पश्चात इन्होंने खुद धर्माध्यक्ष बनने के स्थान पर किसी प्रभावशाली भोटिया गृहस्थ को राजा बनाने का निश्चय किया। इसी ऊहापोह की स्थिति में भिक्षुओं की भेंट फुंटसो नामक भोटिया कृषक से हुई जो एक जोड़ी याक जोत कर हल चला रहा था। फुंटसो ने ताजे दूध से भिक्षुओं का स्वागत किया, जिसे आगंतुकों ने शुभ संकेत माना। कुछ विमर्श के बाद भिक्षुओं ने फुंटसो का धर्मराजा के रूप में अभिषेक किया। और तो और भिक्षु नामग्याल ने धर्म राजा (चोग्याल) फुण्टसो को अपने नाम की पदवी दे डाली। फलस्वरूप सिक्किम का राज परिवार कालान्तर में 'नामग्याल' कहलाया, महाराजा फुंटसो नामग्याल ने प्रमुख भोटिया सभासदों (Kalons) और लेप्चा मुखियायों को क्षेत्रीय प्रशासक (Dzongpens) नियुक्त किया। दोनों समुदायों के वे एक-एक दर्जन परिवार बौद्ध बन गए, आपस में शादियाँ रचाई; और सिक्किम के बहुचर्चित सत्ता-सामन्त 'काजी'¹ कहलाए। किंवदन्ती है कि एक भोटिया काजी की नवव्याहता लिम्बू कन्या का सद्य निर्मित सुसज्जित आवास में स्वागत किया गया, तो वह अपनी मातृभाषा लिम्बू में चहक उठी, सुखीम (नया घर)। विभिन्न उच्चारणों से भटकते हुए सिक्किम शब्द की ऐसी ही व्युत्पत्ति हुई।

कहते हैं कि आरम्भ में सिक्किम की सीमा उत्तर में चुम्बी घाटी (तिब्बत), पूरब में पारो घाटी, दक्षिण में नक्सलवाड़ी और तितालिया तक और पश्चिम में लिम्बुआन

1. भोटदेश (तिब्बत) के निवासी व्यापार, चरवाही या तीर्थाटन के लिए जब हिमालय पार करते हैं तो स्थानीय समुदाय उन्हें भोटिया नाम से पुकारते हैं। यह एक वर्णनात्मक शब्द है जैसे पहाड़ से 'पहाड़िया', उड़ीसा से 'उड़िया'। भोटियाओं में काजी सामन्त होते हैं। तिब्बती और भोटिया भाषा के विद्वान शरत्चन्द्र दास के मुताबिक जब भोटिया सभासद पुर्णिया या दिनाजपुर के स्थानीय मुसलमान सूबेदारों से मिलने आते थे तो तराई (मोरंग) के लोग इन्हें 'काजी साहब' कह कर पुकारते थे। कालान्तर में सामान्य भोटियाओं से अलग पहचान के लिए सिक्किमी सामन्त 'काजी' के नाम से जाने गए।

(नेपाल) तक फैली हुई थी। परन्तु 18वीं सदी का उत्तरार्द्ध नामग्याल राजाओं के लिए कष्टकारक सिद्ध हुआ। पश्चिम में गोरखा नरेश पृथ्वी नारायण शाह (1728-1775) और उनके उतराधिकारियों के हमले होते रहे, तो पूरब से भूटान का देवराजा पूर्वी सिक्किम पर धावा बोलता रहा। इस प्रकार तीस्ता नदी के पूरब का क्षेत्र (आज का कालिमपोंग) भूटान ने हथिया लिया तो तीस्ता और मेची नदियों के बीच की भूमि (दार्जिलिंग) नेपाल ने दखल कर ली। स्वाभाविक है इन स्थानों पर कुछ नेपाली बस भी गए। गुरखा जेनरल जौहर सिंह थापा के नाम पर 'जोरथांग' स्थान बसाया गया। खूँखार गोरखा जेनरल काजी दामोदर पाण्डेय ने 1789 की मकर संक्रान्ति के दिन तीस्ता और रंगीत नदियों के संगम पर अपनी रक्त रंजित तलवार को धोकर युद्ध की समाप्ति की घोषणा की। यही स्थिति अगले 25 सालों तक बनी रही। आंग्ल-नेपाल युद्ध के उपरान्त सुगौली की संधि के अनुच्छेद 2 (5) के अनुसार मेची नदी के पूरब का क्षेत्र अंग्रेजों के हाथ आया। अपने भविष्य के स्वार्थों को ध्यान में रखकर अंग्रेजों ने 'सिक्किमपति' राजा से 10 फरवरी 1817 को तितालिया की सन्धि की, जिसके अनुसार नेपाल से प्राप्त भूतपूर्व सिक्किमी क्षेत्र उसको सुपुर्द कर दिये गए। यह अन्य बात है कि आनेवाले चार दशकों में यह सारा क्षेत्र अंग्रेजों ने हथिया लिया। सिन्चुला की सन्धि के बाद कालिमपोंग मिलाकर दार्जिलिंग जनपद की स्थापना की गई। सिक्किम से दार्जिलिंग लेकर ऐसे विकास किया गया ताकि तिब्बत से होनेवाले व्यापार में अंग्रेजों को अबाध सुविधा होती रहे।

1880 का दशक सिक्किमी राज परिवार के लिए कष्टकारक सिद्ध हुआ। महाराजा थुटुब सप्लीक कालिमपोंग, कुर्शेऑंग और दार्जिलिंग में नजरबन्द कर लिए गए। राज्य का प्रशासन रेजिडेंट जॉन क्लाउड हाइट (1854-1918) को सुपुर्द किया गया। अपने 20 वर्षों के एकछत्र प्रशासन में हाइट ने सिक्किम की काया पलट कर दी। सिक्किम की अर्थव्यवस्था और राजस्व की वृद्धि के लिए सिक्किम की पहाड़ी जंगली और बंजरभूमि को नेपालियों को आबंटित कर दिया। अर्थव्यवस्था को मुद्रा पर आधारित कर वस्तु-विनिमय (Barter System) को बन्द किया। सड़कें, स्कूल, अस्पताल बनवाए; फलों, शाक-सब्जियों की खेती, दस्तीकारी का आरम्भ किया। राज्य की खेती योग्य जमीन का सर्वे कर नियत राजस्व पर ठीकेदारों (lessees) को आवण्टित कर दी। इन ठीकेदारों को पुलिस, न्यायाधिकारी और कारागार रखने का अधिकार दिया गया। आम जनता से वसूल की जानेवाली दण्ड की रकम राज्य और ठीकेदारों में बँट जाती थी। ऊपर से कई प्रकार के बेगार की प्रणाली थी। 1940 आते-आते यह व्यवस्था अत्यन्त ही क्रूर और आततायी बन गई कि जनता में त्राहि-त्राहि मच गई। परन्तु महाराजा टाशी नामग्याल धार्मिक आख्यानों का चित्रण करते रहे और उनकी प्रजा 'कुर्वा' 'बैठी' 'भगरलंगी' और 'कानोभारी' नामक बेगार करती हुई दम तोड़ती रही।

जनचेतना का उदय और सामन्त विरोधी लहर

द्वितीय विश्वयुद्ध के उपरान्त यह साफ होने लगा था कि भारत में अंग्रेजी राज्य का अन्त शीघ्र होगा। परन्तु हिमालयी रजवाड़ों को अपना विशेष प्रभाव क्षेत्र मानने वाले अंग्रेज प्रशासक अपनी तिकड़मों से वाज नहीं आए। जनचेतना के उभार को रोकने के लिए गांतोक स्थित पलिटिकल ऑफिसर ए. जे. हॉपकिन्सन ने सिक्किम और भूटान के महाराजाओं को सलाह दी कि वे अंग्रेजी राज द्वारा भेजी गई 'केबिनेट मिशन' के सामने अपना पक्ष रखने के लिए अपना दल भेजें। महाराजकुमार की अध्यक्षता में सिक्किम का तीन सदस्यी प्रतिनिधि मण्डल दिल्ली गया और शीघ्र ही वापस आ गया। सिक्किम दरबार के माँगपत्र के प्रति उत्तर में हॉपकिन्सन से 29वीं मई 1946 को एक 'नोट'² जारी किया। उसके मुताबिक भारतीय संघ राज्य को सलाह दी गई कि सिक्किम को भारत में मिलाने के स्थान पर उसे अधिक अधिकार देकर एक आश्रित राज्य बनाना अधिक श्रेयस्कर होगा। क्योंकि सिक्किम का भविष्य संवैधानिक आधार पर नहीं, बल्कि हिमालय की सुरक्षा से जुड़ा हुआ है और क्षेत्रीय सुरक्षा का प्रश्न तिब्बत, चीन और रूस में घटित होनेवाली घटनाओं से प्रभावित होगा। है न यह साम्राज्यवादी 'महान खेल' (Imperial great game)? लगता है दिल्ली की जनतान्त्रिक सरकार द्वारा जनभावना के स्थान पर 'टिप्पणी' में दी गई सलाह को प्रमुखता दी गई। फलस्वरूप जनतन्त्र के मूल्य पर राजतन्त्र को प्रमुखता दी गई।

2. "In practice, it may well prove difficult to secure a tidy solution of the future of Nepal, Sikkim and Bhutan and even the eastern marches of Kashmir. This will largely depend on the future policy and fate of China and hence of Tibet. The government of the (Indian) Union must be prepared for complications of North-east Frontier and evolve a policy to meet them. This may well have to be that of maintaining all the principalities in virtual independence of India, but as buffer, as far as possible, (as) client states. There may be greater advantages in according Sikkim a more independent status than seeking to absorb Bhutan as well as Sikkim in the Indian Union...The government will be advised to avoid entering into fresh commitments with any one of these frontier states or seeking to redefining their status. Their importance is strategic in direct relation to Tibet and China and indirectly to Russia. Such adjustment of relations with the Union carefully be affected by those political and strategic considerations ...account of which, it is hoped, the treaty will take rather than the political niceties, which do not help defence policy." Indian Office Library Record/MSS/EUR/F-157/Secret, 4357 File No. 1, Letter No. D/4334, CA/46, and May 29, 1946 from the deptt to the PO in Sikkim.

सिक्किम की राजधानी, गांतोक में टाशी शेरिंग, सोनम शेटींग, काजाँग तेंजींग आदि ने सिक्किम प्रजा की भलाई के लिए प्रजा सुधारक समाज की स्थापना कर रखी थी। इन लोगों ने तात्कालिक प्रचलित बेकार व्यवस्था के विरुद्ध आवाज उठायी। फलस्वरूप काजियों के गुरगों ने सोनम शेरिंग की जमकर पिटाई कर दी। परन्तु प्रशासन उनकी रक्षा नहीं कर सका। उसी तरह दक्षिणी सिक्किमी स्थान तीमीतारक में गोबरधन प्रधान, धन बहादुर तिवारी, हरिशंकर परसाई और काशीराज प्रधान ने प्रजा सम्मेलन बना रखा था। प्रायः उन्हीं उद्देश्यों से प्रेरित पश्चिमी सिक्किम के चोखुंग स्थान पर काजी ल्हेन्दुप दोरजी खानशरपा ने प्रजा मण्डल बना रखा था। परन्तु इन तीनों संगठनों में सम्पर्क और सहयोग का अभाव था। इस कमी को पूरा करने के लिए गांतोक स्थित प्रजा सुधारक समाज ने पहल की और दिसम्बर 7, 1947 को गांतोक के पोलो मैदान में एक आम सभा करने का निश्चय किया। इस सभा के आयोजकों ने उपरोक्त अन्य दो संगठनों को भी इस आयोजन में भाग लेने का न्योता दिया। उस दिन सिक्किम की त्रस्त जनता ने पहले-पहल अपने नेताओं को उनकी समस्याओं पर खुले मंच से बोलते सुना। अज्ञात आशंकाओं के विपरीत जनता में अपार उत्साह था। परन्तु अनुभवहीन नेताओं के भाषण उबाऊ और अनाकर्षक रहे। ऐसी स्थिति में एक घटना घटी। आयोजकों ने टाशी शेरिंग द्वारा लिखित 'सिक्किम सम्बन्धी कुछ सत्य' (A Few Facts about Sikkim) नामक पुस्तिका के नेपाली अनुवाद को पढ़ने के लिए 24 वर्षीय चन्द्रदास राई को मंच पर बुलाया। चन्द्रदास दार्जिलिंग में आयोजित राजनैतिक सभाओं में अपने विद्यार्थी जीवन के समय जाया करते थे। ऐसा भी कहा जाता है कि चन्द्रदास काँग्रेस के समाजवादी खेमे के नेताओं से प्रभावित थे।

स्वाभाविक है कि चन्द्रदास ऐसे अवसर की प्रतीक्षा में थे। टाशी शेरिंग की पुस्तिका के नेपाली अनुवाद की प्रतियाँ जनसभा में वितरित की गईं। पुस्तिका के प्रकरण के साथ-साथ चन्द्रदास ने जनता की भाषा में, जनता के रोज-रोज की परेशानियों की कहानी निर्भय होकर मजाकिया लहजे में बयान कर डाला। चन्द्रदास के एक-एक वाक्य पर तालियाँ बजतीं और ठहाके लगते। सिक्किम के सर्वशक्तिमान प्रभुत्ता सम्पन्न सामन्तों का इस प्रकार मखौल अनहोनी बात थी। जनसभा समाप्त होते-होते चन्द्रदास सिक्किम के पहले सार्वजनिक नेता और वक्ता के रूप में उभरे। कृतज्ञ जनता प्यार से चन्द्रदास को सिक्किम का नेहरू पुकारने लगी। सभा की समाप्ति पर उसी शाम तीनों संगठनों की एक बैठक में एक नये राजनैतिक दल, सिक्किम राज्य काँग्रेस की स्थापना की गई। बुजुर्ग भोटिया नेता टाशी शेरिंग अध्यक्ष चुने गए और सर्वसम्मति से तीन-सूत्री मांग स्वीकार की गई। इन मांगों को लेकर राज्य काँग्रेस का पाँच सदस्यीय प्रतिनिधि मंडल दिसम्बर 9, 1947 को महाराजा से

मिला। राज्य कांग्रेस की तीन-सूत्री माँगें ये थीं : (i) जमींदारी का उन्मूलन (ii) जनतांत्रिक और जिम्मेवार सरकार बनाने के पहले अन्तरिम सरकार का गठन, और (iii) सिक्किम का भारतीय गणराज्य में विलय।

इन चन्द दिनों में ही सिक्किम का राजनैतिक वातावरण काफी बदल चुका था। महाराजा ने कांग्रेस के प्रतिनिधियों को जमींदारों के अधिकारों पर लगाम शीघ्र ही लगाने की बात बतायी और शीघ्र ही जमींदारी उन्मूलन का वादा किया। अन्तरिम सरकार बनाने की बात भी मान ली गई। दोनों पक्षों की सहमति से भारत में विलय के प्रश्न को स्थगित कर दिया गया क्योंकि इस सम्बन्ध में भारत सरकार और महाराजा के बीच वार्तालाप चल रहा था। यहाँ दो बातों को ध्यान रखना जरूरी है : पहला, बिना नियम-विधान बनाए सरकार में शामिल होने की जल्दीबाजी और दूसरा, निकटवर्ती दार्जिलिंग में गोरखाराज्य की माँग। पहली बात तो ऐसी सिद्ध हुई कि नियम के अभाव में मन्त्रिमण्डल गतिरोध का शिकार बना। दूसरी बात, गोरखाराज्य का प्रश्न इतना पेचीदा हो गया है कि जाने-अनजाने वह आज भी सिक्किम के लिए सरदर्द बना हुआ है।

परन्तु तत्कालीन सिक्किम में प्रतिक्रियावाद के प्रतीक, महाराजकुमार पाल्देन थोडुंग नामग्याल ने कांग्रेस के क्रियाकलापों को चुनौती देने के लिए भोटिया भिक्षुओं, काजी जमींदारों और दरबारी पिटुओं की मदद से 30 अप्रैल, 1948 को सिक्किम राष्ट्रीय पार्टी का संगठन कराया। इस नयी पार्टी का एकमात्र उद्देश्य कांग्रेस के हर पहलू का विरोध करना था। स्वाभाविक था कि राज्य कांग्रेस की माँगों के विरुद्ध प्रस्ताव पास किए गए और उनसे भारत सरकार को अवगत भी करा दिया गया। कांग्रेस अध्यक्ष टोशी शेरिंग ने सिक्किम राष्ट्रीय पार्टी को, कांग्रेस का विपर्यय (Antithesis of Congress) बताया। ऐसी स्थिति में अन्तरिम सरकार तो बनी नहीं और जन-आक्रोश बढ़ता गया। कांग्रेस ने नयी स्थिति की समीक्षा की और पिछले एक साल के हालात पर भारत सरकार से विचार करने के लिए टोशी शेरिंग और चन्द्रदास राई ने प्रधानमन्त्री नेहरू से दिल्ली में मुलाकात की। अपनी माँगों के समर्थन में फरवरी, 1949 में कांग्रेस ने 'लगान-बन्दी' का अभियान चलाया। शीघ्र ही चन्द्रदास और अन्य नेता गिरफ्तार कर लिए गए और टोशी शेरिंग की गिरफ्तारी का सम्मन जारी किया गया। इन दमनकारी कदमों से जनक्रोध और भड़क उठा और हजारों की संख्या में गरीब जनता गांतोक में इकट्ठा होने लगी। इन प्रयासों से सिक्किम प्रशासन चरमरा उठा और कांग्रेस के बन्दी रिहा कर दिए गए। परन्तु गतिरोध बना ही रहा। ऐसी स्थिति में कांग्रेस ने पहली मई, 1949 से महाराजा के विरुद्ध प्रदर्शन करना आरम्भ किया। 'जमींदारों का नाश हो' 'प्रजातन्त्र-जिन्दाबाद' 'जनता का राज्य कायम हो' आदि नारों के साथ हजारों सत्याग्रहियों ने राज दरबार का घेराव किया। महाराजा ने भागकर भारत भवन (भारत सरकार का गांतोक स्थित

कार्यालय) में शरण ली। पलायन करते महाराज कुमार को सत्याग्रहियों ने पैदल भागने पर मजबूर किया। कोई रास्ता न देख महाराजा टोशी नामग्याल ने कांग्रेस अध्यक्ष टोशी शेरिंग (मुख्यमंत्री) के नेतृत्व में पाँच सदस्यीय सरकार को 9 मई, 1949 को शपथ दिलायी।

काँग्रेस अध्यक्ष के अतिरिक्त काँग्रेस के उपाध्यक्ष दीमिक सिंह लेपचा और महामन्त्री चन्द्रदास राई काँग्रेस की तरफ से और दोरजी दोदल और रेशमी प्रसाद आंले ने दरबार के प्रतिनिधि के रूप में मन्त्री पद की शपथ ली। दरबार की चहेती, सिक्किम राष्ट्रीय पार्टी, का कहीं जिक्र भी नहीं था। परन्तु दरबार साम, दाम, दण्ड और भेद की नीति के अनुरूप काँग्रेस को प्रभाहीन करने में व्यस्त था। ऊपर से काँग्रेस के नेताओं में अनुभव, दूरदर्शिता और अनवरत जनसंघर्ष करने के अभाव था, तब तक भारत सरकार की नीति भी साफ नहीं हो पाई थी। मन्त्रिपरिषद् के शपथ लेने के साथ ही काँग्रेस के छुटभैये नेता इतरा कर प्रशासन में दखल देने लगे। मन्त्रिपरिषद् में दरबारी और काँग्रेसी के बीच प्रत्येक विषय में रसाकशी के चलते, प्रशासन ठप था। ऐसी स्थिति में राज्य काँग्रेस के कुछ अनुभवहीन छुटभैया नेता गांतोक की सड़कों पर नशे की हालत में गाली-गलौज और मारपीट पर उतर आये। ऐसी स्थिति में इस सीमावर्ती राज्य में नागरिक आन्तरिक सुरक्षा को खतरे में देख भारत संघ के प्रतिनिधि, हरिश्चर दयाल ने 6 जून, 1949 को पाँचों मन्त्रियों को अपने दफ्तर में तलब किया। कहते हैं कि बिना किसी भूमिका के श्री दयाल ने सूचना दी कि वे भारत सरकार के नाम पर मन्त्रिमण्डल को बरखस्त करते हैं और खुद हुकूमत सम्भालने की जिम्मेवारी लेते हैं। हतप्रभ मंत्रीगण भारत भवन से बाहर आए।

सामन्तवाद का नया स्वरूप और प्रजातन्त्र की दूसरी लड़ाई

प्रथम जनप्रिय मन्त्रिपरिषद् के भंग किए जाने के बाद सिक्किम का प्रशासन फिर एक बार पुराने अंग्रेज परस्त आई. सी. एस. अफसरों के हाथ आ लगा। जॉन लाल और नारी खुर्शेद रुस्तमजी क्रमशः दीवान बनाए गए। भूमि स्वामित्व सम्बन्धी कुछ सुधार भी किए गए। सामन्तशाही के स्थान पर अफसरशाही को लाकर प्रशासन को नया रूप दिया गया। सिक्किम राज्य काँग्रेस हतप्रभ और दिशाहीन बन गई और दरबार का प्रश्रय पा सिक्किम राष्ट्रीय पार्टी अपना प्रभाव बढ़ाने में व्यस्त थी। सीमापार तिब्बत में चीन की गतिविधियों से प्रभावित भारत सरकार लगता है कि हॉपकिन्सन के उपरोक्त 'नोट' को अमल करने में लग गई। फलस्वरूप भारतीय नौकरशाही की देख-रेख में सिक्किम में जनतन्त्र का नया नाटक शुरू हुआ। फिर क्या था? 1919 की बदनाम दोहरी (Dyarchy) प्रशासन व्यवस्था सिक्किम में लागू की गई। इसके मुताबिक महाराजा की क्षेत्रछाया में जनप्रतिनिधियों से परे अफसरशाही स्वतन्त्र रूप में काम करती रही। साथ ही साथ एक सीमित और कुटिल जनतान्त्रिक

आधार पर 1953 में राज्यपरिषद् और कार्यकारी परिषद् (State Council & Executive Council) की व्यवस्था भी की गई। इस नई पहल के मुताबिक प्रजातीय और धार्मिक आधार पर (On the ground of race and religion) सिक्किमी जनता को दो भागों में बाँटकर बिखरे हुए साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व (Fragmented communal representation) की कल्पना की गई। तुरा यह कि राज्य परिषद् के एक-तिहाई सदस्यों को महाराजा नामजद करते रहे। वास्तव में यो हुआ कि करीब 70 प्रतिशत नेपाली मूल के मुख्यतः हिन्दुओं को 50 प्रतिशत स्थानों पर और 25 प्रतिशत बौद्ध धर्मावलम्बी लेपचा-भोटियाओं को 50 प्रतिशत राज्यपरिषद् के स्थानों पर चुनने की मान्यता दी गई। कालान्तर में इस फार्मूलों को प्रशासन, आर्थिक और शैक्षणिक क्षेत्रों में भी प्रश्रय दिया गया। सिक्किम दरबार की चहेती राष्ट्रीय पार्टी को छोड़ सभी राजनैतिक दलों ने इस घृणित साम्प्रदायिक 'पैरीटी' पद्धति (Parity System) का विरोध किया। ऊपर से तुरा यह कि सिक्किम का प्रशासन सामान्य सहमति (general concensus) पर कार्यकारी परिषद् चलाती थी, जिसमें मतैक्य के नाम पर महाराजा चाटुकार पार्शदों को कार्यकारी परिषद् में चुनते रहे।

दरबार की हरदम कोशिश रही कि राज्य काँग्रेस की बहुजातीय छवि खत्म हो जाय और वह नेपाली हिन्दुओं की पार्टी बन जाए, ताकि दरबार उन्हें आसानी से विदेशी नेपाली हिन्दुओं की पार्टी के रूप में बदनाम कर सके। दूसरी तरफ खुले रूप से प्रजातीय आधार पर लेपचा-भोटियों की राष्ट्रीय पार्टी को कुछ नेपाली मूल के दरबारियों की मदद से सचमुच के राष्ट्रीय दल के रूप में दरबार में पेश करता रहा। आश्चर्य है कि इस हास्यास्पद खेल में भारत सरकार, उसके सिक्किम में भेजे गए नौकरशाह और यहाँ तक कि जनतान्त्रिक दल भी चुपचाप तमाशा देखते रहे। लेकिन इस दरबारी नाटक के स्वरूप को बिगाड़ने का काम किया एक भूतपूर्व बौद्ध भिक्षु लेपचा काजी ल्हेनडुप दोर्जी ने। काजी साहब ने सिक्किम राज्य काँग्रेस के उप सभापति के रूप में अपना राजनैतिक जीवन आरम्भ किया। जनतान्त्रिक मूल्यों से भटकती राज्य काँग्रेस को छोड़कर 1960 में सिक्किम राष्ट्रीय काँग्रेस की स्थापना की। फिर भी अगले दो दशक तक सिक्किमी राजनैतिक क्षितिज पर छाए रहे। सम्पूर्ण सिक्किम में फैले एक मात्र राज्य परिषद् का स्थानजेनेरल सिक्किमपर काजी का अधिकार बना रहा। काजी साहब की महाराजकुमार और कालान्तर में महाराजा पाल्देन थोडुप नामग्याल से अन्त-अन्त तक टक्कर रही।

ऐसी दयनीय स्थिति में करीब दो दशक में सिक्किम राज्य काँग्रेस अपनी बहुजातीय छवि खो चुकी थी और नेवार पार्टी के रूप में बदनाम हो गई थी। दूसरी तरफ सिक्किम राष्ट्रीय पार्टी अनवरत अपना प्रभुत्व बढ़ाती गई। काँग्रेस का हास और राष्ट्रीय पार्टी का विकास दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू पेश करते हैं। इस बीच में काजी साहब की राष्ट्रीय काँग्रेस एक नई चुनौती के रूप में दरबारी मुसाहिबों के

सामने आ खड़ी होती है। राष्ट्रीय काँग्रेस ने राज्यपरिषद् के तीन चुनावों में भाग लिया और चुनाव परिणाम दरबारी अपेक्षाओं के विपरीत काँग्रेस के पक्ष में रहा ही नहीं। राष्ट्रीय काँग्रेस के प्रत्याशी नेपाली, लेपचा, भोटिया, मठों और अनुसूचित जातियों के स्थानों से चुने जाते रहे। निम्नांकित तालिका राज्य परिषद के 20 सालों का चुनाव परिणाम दलों के अनुसार दर्शाती है।

सिक्किम राज्य परिषद् के चुनावी परिणाम : 1953-1973

दल विशेष	1953	1958	1967	1970	1973	कुल
1. सिक्किम राज्य काँग्रेस	6	8	2	4	2	22
2. सिक्किम राष्ट्रीय पार्टी	6	6	5	7	9	33
3. सिक्किम राष्ट्रीय काँग्रेस	-	-	8	5	5	18
4. निर्दलीय	-	-	3	2	2	07
कुल निर्वाचित स्थान	12	14	18	18	18	80

अन्तिम नामग्याल नरेश पाल्देन थोडुप सिक्किम को संरक्षित स्थिति के स्थान पर एक स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में देखने लगे थे। वे उसकी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में तिब्बत की बौद्ध सांस्कृतिक परम्परा को सिक्किमी जामा पहनाने में व्यस्त रहने लगे थे। चीनी स्थापत्य कला पर आधारित इमारतें, तिब्बती नमूने के गलीचे, पोशाक, कलाकृतियाँ आदि सिक्किमी के रूप में पेश किए जाने लगे। इस प्रकरण में सिक्किम की बहुसंख्यक नेपाली मूल की जनता का कोई स्थान नहीं बनता था। फलस्वरूप इस खोखली विरासत की कलाई खुल जाती है। परन्तु अपनी धुन के पक्के नामग्याल नरेश अधिकांश जनता की भावनाओं की अनदेखी कर अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए अन्तर्राष्ट्रीय समर्थन जुटाने में संलग्न थे। दूसरी तरफ सिक्किम की जागरूक होती जनता प्रजातीय समानता के रूप में स्थापित सीमित जनतन्त्र को पूर्णतः जनतान्त्रिक बनाना चाहती थी। परन्तु नामग्याल प्रशासन अपने चाटुकार प्रशासकों के पक्षपातपूर्ण रवैये से आँखमिचौली करता रहा। राज्य परिषद के अन्तिम चुनाव (1973) में एक ऐसी ही धाँधली पकड़े जाने पर विरोध में उठी आवाज के निरादर पर जनता के असन्तोष का बाँध टूट पड़ा और उसके परिणाम दूरगामी सिद्ध हुए।

सिक्किम का विलय या

साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष का विलम्बित अन्तः

1973 के राज्य परिषद की चुनाव सम्बन्धी अनियमितताओं के निराकरण के बदले उदंडता भरा उत्तर जनाक्रोश में बदल गया। राजनैतिक असन्तोष की दबी हुई ज्वाला भड़क उठी और पश्चिमी और दक्षिणी जिलों से दरबार का प्रशासन समाप्त

कर जनता राज स्थापित हो गया। थाना, कचहरी, जेल और अन्य दफ्तर जनता ने हथिया लिया। पूर्वी जिले के रंगपो, शिंगताज, रानीपुल और गांतोक में जनता का अनवरत प्रदर्शन जारी रहा। सिक्किम के भीतरी भागों से आम जनता गांतोक का घेराव करने आ पहुँची। ऐसी विकट स्थिति में भी कुछ चाटुकार दरबारी महाराजा का 50वाँ जन्मदिन मनाने के लिए आमादा थे। उसी क्षण महाराजा की पुलिस प्रदर्शनकारियों पर गोलियाँ बरसा रही थी। स्थिति काबू से बाहर जाते देख महाराजा और राजनैतिक दलों ने भारत सरकार से सिक्किम का प्रशासन सँभालने का आग्रह किया। भारत सरकार की पहल पर शीघ्र ही केन्द्रीय सुरक्षा बल की टुकड़ियाँ अशान्त क्षेत्रों में भेजी गईं।

एक वरिष्ठ प्रशासक बी.एस. दास को मुख्य प्रशासनिक अधिकारी (Chief Executive Officer) बनाकर प्रशासन सँभालने के लिए भेजा गया। भारत सरकार ने शीघ्र ही प्रशासनिक और पुलिस अधिकारियों की टुकड़ी भेजी ताकि दूर-दराज के क्षेत्रों में शीघ्र ही सामान्य स्थिति बहाल की जा सके। राजनैतिक दलों और महाराजा के बीच काफी मान-मनौवल के बाद 8 मई 1973 को महाराजा, भारत सरकार के प्रतिनिधि और तीन मान्य दलों के पाँच-पाँच पदाधिकारियों ने एक समझौते पर हस्ताक्षर किए। फलस्वरूप जनवरी, 1973 में संपन्न राज्य परिषद का चुनाव रद्द कर दिया गया। अगले साल 32 सदस्यीय राज्य विधान परिषद का चुनाव किया गया, जिसमें एक को छोड़ सभी स्थानों पर काजी ल्हेनडुप दोरजी के सदस्य चुने गए। काजी के नेतृत्व में मन्त्रिपरिषद् ने शपथ ली। स्वाभाविक था कि ये सब गतिविधियाँ महाराजा को नहीं जँच रही थीं और उन्होंने सिक्किम के अलग अस्तित्व के विषय में अपनी मुहिम जारी रखी। महाराजा की गतिविधियों से तंग आकर मन्त्रिपरिषद् ने सिक्किम को भारतीय संघ के साथ जोड़ने की सम्भावना पर विचार करने का आग्रह किया। इस प्रश्न पर दरबार और राजनैतिक दलों में मतभेद खुलकर सामने आया।

उपरोक्त मतभेद को हल करने के लिए और सिक्किम के भविष्य को लेकर मुख्यमन्त्री ने तत्काल जनमत संग्रह (referendum) की माँग की। फलस्वरूप 14 अप्रैल, 1975 को जनमत संग्रह कराया गया। जनता को यथास्थिति बनाए रखने या भारत के साथ निकट सम्बन्ध स्थापित करने में एक को चुनना था। लाल और सफेद दो बक्से महाराजा या काजी के प्रतीक रूप में रखे गए। लोग महाराजा की कारगुजारियों से तंग आ चुके थे और सामान्यतः जनता काजी के पक्ष में थी। इस प्रकार एक तरह से जनमत संग्रह का परिणाम पहले से ही सर्वविदित था। 97 प्रतिशत लोगों ने महाराजा के विरुद्ध और काजी के पक्ष में मत डाले। परन्तु यहाँ तक कि काजी के अन्ध भक्त भी इस स्थिति से अनभिज्ञ थे कि महाराजा की पराजय का अर्थ सिक्किम का भारत में विलय है। जनमत संग्रह के परिणाम के सन्दर्भ में मुख्यमन्त्री काजी ने भारत सरकार से आवश्यक कदम उठाने का आग्रह किया।

तदनुसार भारतीय, संसद ने 38वाँ संविधान संशोधन बिल पारित किए, जिसके अनुसार राज्यपाल, निर्वाचित विधान सभा समर्थित मन्त्रिपरिषद एवं हाईकोर्ट से सज्जित भारतीय संघ के 22वें राज्य के रूप में सिक्किम का उदय हुआ।

सिक्किम के प्रश्न पर सुनन्दा दत्तारे, बी. एस. दास, नारी खुर्शेद रुस्तम जी, ए. सी. सिन्हा आदि विद्वानों ने लिखा है। कई भारतीय पत्रकारों ने इस घटना का नाम सिक्किम का भारत में विलय दिया। दूसरी तरफ दत्तारे ऐसे पत्रकारों ने इस घटना को भारत की सोची-समझी अधिग्रहण या अतिक्रमण की नीति की परिणति बताया। अपने पत्राचारों के आधार पर अन्तिम चोग्याल के अभिन्न मित्र नारी रुस्तम जी ने, इस समस्या की मार्मिक विवेचना की और सिक्किम और पी. टी. नामग्याल की तुलना एक युनानी दुखान्त कहानी (A Greek Tragedy) से की। बी. एस. दास ऐसे विद्वान हैं, जिन्होंने अन्तिम चोग्याल के अन्तिम दो वर्षों में उन्हें नजदीक से देखा और परखा था। दास ने पाया कि जीवन के अन्तिम क्षणों में भूतपूर्व महाराजा राजनैतिक के बजाय एक जिद्दी और तर्कहीन अभिनेता जैसा बन गये थे। परन्तु इन सभी विवेचनाओं से परे पीछे जुड़ती अंग्रेजी साम्राज्यवाद था, जिसने अपने सिक्किमी प्रतिनिधि के उपरोक्त 'नोट' के रूप में भारत सरकार की नीति को बन्धक बना रखा था। यही कारण था कि अन्त तक चोग्याल पाल्देन, नामग्याल को भरोसा था कि उनकी सारी कारगुजारियों को नजर अन्दाज कर भारत सरकार किसी भी स्थिति में उन्हें अकेला नहीं छोड़ेगी और वे बेलगाम भारत विरोध पर बढ़ते चले गए। परन्तु वे भूल गये कि 1975, 1949 नहीं था। और भारत का प्रधानमन्त्री उदार आदर्शवादी जवाहरलाल नेहरू नहीं, बल्कि उन्हीं की बेटी परन्तु वस्तुपरक यथार्थवादी (objective realist) इन्दिरा गाँधी थी जो कि भारतीय संघ के प्रति पूर्ण समर्पित थीं। इस प्रकार सिक्किम के भारतीयकरण को हॉपकिन्सन के नोट के सन्दर्भ में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष का अन्त मानना अधिक श्रेयस्कर होगा।

सन्दर्भ

1. Basnet LB : 1974, *Sikkim : A short Political History*, S. Chand & Co. Pvt. Ltd. Delhi.
2. Das, B.S. 1983: *Sikkim Saga*, Vikas Publishing House, New Delhi.
3. Dutta Ray, Sunanda K : 1984, *Smash and Grab : Annexation of Sikkim*, Vikas Publishing House, New Delhi.
4. Rustomji Nari K. : 1987, *Sikkim : A Himalayan Tragedy* Allied Publishers Pvt. Ltd., Bombay.
5. Sinha, A C : 1975, *Politics of Sikkim*, Thompson Press, Faridabad.
6. Sinha, A C : 2008, *Sikkim : Feudal and Democratic*, Indus Publishing Company, New Delhi.

वैश्वीकृत समाज में अश्लीलत्व की नई अवधारणाएँ, नव आचार संहिता

पुष्पपाल सिंह*

प्रत्येक समाज और देशकाल में समय-समय पर सांस्कृतिक मूल्यों-मान्यताओं में परिवर्तन घटित होते हैं, यह संस्कृति का विकासशील स्वरूप तो है ही, अपने समय के साथ चलने का सार्थक उपक्रम भी है। किन्तु पिछले 10-15 वर्षों में सांस्कृतिक संक्रमण की यह प्रक्रिया जितनी विस्मयकारी है, उससे भी अधिक हमें विचलित और आन्दोलित करनेवाली भी है। वैश्वीकरण की जो आँधी इतनी तेजी से हमारी पारम्परिकता को लील कर, हमसे हमारी जमीन पैरों के नीचे से खींच कर एक वैश्विक ग्राम का सदस्य जिस रूप में बना रही है, वह चिंता का विषय है। यह वैश्वीकरण पूरे विश्व-सांस्कृतिक समुदाय से उसका श्रेष्ठ आयत्त करना नहीं है। अपितु हर दृष्टि से केवल अमेरिकीकरण है। खजुराहो, जगन्नाथ पुरी, अजंता आदि के देश में आज श्लीलता और अश्लीलता की नई परिभाषाएँ गढ़ी जा रही हैं। काम, कामुकता, उत्तेजक ('सैक्स', 'सैक्सी', 'हॉट') अपना नया पाठ और नई अवधारणाएँ बना रहे हैं। आज से 15-20 वर्ष पूर्व जब किसी युवती को 'सैक्सी' (कामुक) 'उत्तेजक' (हॉट) या 'दहकती हुई' (सीजलिंग) कह दिया जाता था तो वह कुछ उसके लिए गौरवपूर्ण नहीं था, उसे एक 'खराब लड़की' ही माना जाता था या ये शब्द प्रायः वेश्या-वर्ग या उससे मिलते-जुलते वर्ग के लिए ही संदर्भित थे। मैं हिन्दी-अंग्रेजी के 5-6 प्रतिष्ठित कोश उठा कर देखता हूँ तो उनमें कहीं भी वे अर्थ या अर्थ-छवियाँ इन शब्दों की नहीं मिलतीं जिस स्पृहणीय अर्थ में आज उनका प्रयोग हो रहा है और जिसके लिए वह प्रयोग हो रहा है, वह उस अभिव्यक्ति को पा कर गद्गद हो रही है/रहा है। पहले गाली जैसे शब्द अब कितने गौरववान हो उठे हैं, इसे इन प्रयोगों में भी भली-भाँति देखा जा सकता है, जैसे सैक्सी कार, सैक्सी घर, सैक्सी शेयर बाजार, सैक्सी मौसम, आदि, आदि। भाषा विज्ञान का सामान्य-सा विद्यार्थी भी जानता है कि शब्दों का अर्थ-परिवर्तन समय के साथ होता है किन्तु यह इस रूप में होगा, कभी सोचा भी नहीं गया होगा।

* भूतपूर्व आचार्य एवं विभागाध्यक्ष, हिन्दी; पंजाबी विश्वविद्यालय, पटियाला।

भू-मण्डलीय गाँव-संस्कृतिवैश्विक ग्राम संस्कृतिसे अमेरिका आयातित हमने अनेक महाप्रस्ताव ग्रहण किए हैं जिनमें विविध स्तरीय सौन्दर्य प्रतियोगिताएँ अन्तर्राष्ट्रीय प्रतियोगिताएँ, राष्ट्रीय प्रतियोगिताएँ, नगर प्रतियोगिताएँ, कॉलेज और विश्वविद्यालयों में आयोजित प्रतियोगिताएँ, यहाँ तक कि अब महँगी फीस लेने वाले अंग्रेजी नामधारी अन्तर्राष्ट्रीय शिशु विद्यालयों (इण्टरनेशनल स्कूल ...अनेक स्कूलों के नाम के साथ लगा हुआ शोभाधर्मी विशेषण) में छोटी-छोटी कक्षाओं में 'कैट वाक्' कराया जा रहा है हमारे यहाँ तो अभी 'कैटवाक्' का अनुवाद भी उपलब्ध नहीं है, हो भी नहीं सकता हमारे सांस्कृतिक कार्यक्रमों में तो इसके लिए कोई स्थान ही नहीं था। लगता है कि ये सौन्दर्य प्रतियोगिताएँ और विभिन्न स्थानों पर होने वाले 'फैशन वीक' अब हमारे समाज की आवश्यकताएँ ही बन गए हैं। प्रति वर्ष दिल्ली, मुम्बई, कोलकाता, आदि महानगरों में आए दिन 'फैशन सप्ताहों' ('फैशन वीक') का आयोजन होता ही रहता है। देश-विदेश के नामी डिजाइनर अपने महँगे-महँगे लिबासों-परिधानों का प्रदर्शन सुन्दर, अति सुन्दर मॉडलों (रूपसियों) द्वारा कराते हैं। ऐसे ही एक फैशन सप्ताह में किसी समाचार-चैनल के व्यक्ति ने किसी दर्शक से पूछा कि आपको यहाँ प्रदर्शित पोशाकों कैसी लगतीं तो उन्होंने कहा 'बहुत अच्छी लगतीं, किन्तु जब दूसरा प्रश्न दागा गया कि क्या आप इन वस्त्रों को अपने घर-परिवार में पहनना पसन्द करेंगे। तो उनका उत्तर नकारात्मक था। यह कैसी विरोधाभासी अवधारणा है कि परिधान-पोशाक हमें अच्छी तो लग रही है किन्तु इसे हम घर-परिवार में पहन नहीं सकेंगी। यह बात लगभग 5-6 बरस पुरानी है। आज यह दिक्कत नहीं रह गई है, आज ऐसी वेश-भूषाएँ सामान्यता में आ गई हैं। आज से कुछ साल पहले जब 'ऑस्कर एवार्ड्स' पर विभिन्न महिला प्रतिभागियों की 'लो कट' या 'अर्धवक्ष' पोशाकों को देखना, भारतीय दर्शक के लिए बड़ी विस्मयकारी स्थिति थी, किन्तु अब हमारी अभिनेत्रियों ने इतनी तेजी से इन सबका अनुकरण किया कि वह हमारे लिए 'सामान्य' (नॉर्मल) हो उठा। इस सबको तो पचा लेने की तासीर समाज अपने अन्दर पैदा कर चुका है कदाचित्! पचा वह नहीं पाया कि मंच पर प्रदर्शन कैटवाक् करते हुए उपरिस्त्र, टॉप का पल्लू पूरी तरह सरक कर मॉडल का वक्ष पूरी तरह नंगा हो जाए। यह घटना कुछ हजार दर्शकों के बीच ही घटित हुई किन्तु इलैक्ट्रॉनिक मीडिया के विभिन्न समाचार चैनलों ने इस घटना का 'दुर्घटना' के रूप में करोड़ों-करोड़ों दर्शकों तक बार-बार अपने समाचार-बुलेटिनों में 'सहर्ष' पहुँचाया और इस रूप में दिखाया कि सन् 2006 ई. में हुई ऐसी ही दुर्घटना का चाक्षुष पुनःस्मरण कराया। वैसे कितने ही फिल्म निर्देशकों और परिधान विशेषज्ञों ने इसे दुर्घटना न मान कर केवल यह कहा कि 'ऐसा हो जाता है।' 'यह सामान्य बात है', 'यह वार्ड रोब' का मिस मैनेजमेण्ट है। फैशन वीक की यह दुर्घटना सामाजिक, नैतिक और कानूनी दृष्टि से अनेक प्रश्नों को जन्म देती है।

समाचार-चैनलों ने इस दुर्घटना को दिखाते हुए बार-बार कहा कि यह भारतीय दण्ड संहिता की धारा 292 का उल्लंघन है जिसमें सामाजिक आयोजनों में अशालीनता दिखाने के लिए दण्ड का प्रावधान है। अश्लीलता के अन्तर्गत स्त्री को अशालीन ढंग से प्रस्तुत करने को दण्डनीय अपराध माना गया है। इन्हीं समाचारों में यह भी बताया गया कि सन् 2006 में हुई ऐसी ही दुर्घटना पर महाराष्ट्र के उच्च न्यायालय ने आयोजकों को हिदायतें दीं कि प्रदर्शन के दौरान ऐसी घटना होने पर प्रकाश व्यवस्था मंद कर दी जानी चाहिए और प्रतियोगी, मॉडल्स को उपरि-परिधान के नीचे अन्तर्वस्त्र (इनर-सूट) पहनना आवश्यक कर देना चाहिए। आयोजक तो न्यायालय के इस आदेश की पालना नहीं कर पाए, पर समाचार चैनल इस आदेश को कौन-सा सम्मान दे पाये जो बारम्बार भरपूर प्रकाश व्यवस्था में इस दृश्य को चटखारे ले ले कर दिखाते रहे। लाइट धीमी ('डिम') करने के आदेश को उन्होंने भी पूरी तरह नकार दिया। कुछ समाचार चैनलों ने अवश्य वक्ष-स्थल पर अवरोधक रूप में हल्की पट्टी-सी दिखा दी किन्तु एक चैनल ने उसे 'पूरे सच' के रूप में वक्ष-स्थल को पूरी तरह निर्वस्त्र दिखाया। क्या ये सभी समाचार चैनल भारतीय दण्ड संहिता की धारा 292 के अन्तर्गत दण्डनीय अपराध की श्रेणी में नहीं आते? यहाँ प्रश्न यह भी उठता है कि क्या इस प्रकार की घटनाओं को केवल सूच्य, वाचिक, रूप में ही नहीं दिखाया जा सकता? ऐसे समाचारों में समाचार प्रस्तोता केवल समाचार पढ़कर ही सुना सकता है, उसके लिए चाक्षुण प्रमाणों/फुटेज को दिखाने की कोई महती आवश्यकता दिखाई नहीं देती। दृश्य माध्यम के इलेक्ट्रॉनिक मीडिया में यदि यह सब आवश्यक ही हो तो उसे ग्राफिक्स के माध्यम से भी दिखाया जा सकता है जिस प्रकार दो ट्रेनों की भिड़ंत या आतंकवादी हमलों के बम-विस्फोटों को ग्राफिक्स के द्वारा दिखाया जाता है। अपने वर्तमान रूप में तो समाचार चैनलों की यह प्रस्तुति दण्डनीय अपराध की श्रेणी में आती है। पर क्या किसी प्रशासनिक विभाग या बौद्धिकों द्वारा इस अश्लीलता-प्रदर्शन के विरोध का एक भी स्वर उठा?? यदि हम इस प्रकार के अश्लील तत्व को धीरे-धीरे पचाते रहे तो इनमें अश्लीलता लगनी बन्द ही हो जाएगी।

नैतिकता की दृष्टि से यह सवाल तेजी से उभरता है कि सांस्कृतिक दृष्टि से हम जिस संक्रमणकालीन समय में जी रहे हैं उसमें अश्लीलत्व की परिभाषाएँ और मानदण्ड भी बदलने होंगे। हॉलीवुड की नग्न-अर्द्धनग्न संस्कृति को जिस तेजी से बॉलीवुड और उसके बाद फिर टी. वी. का छोटा परदा अपनाता जा रहा है, उसको धीरे-धीरे सामाजिक स्वीकृति मिलती जा रही है। प्रश्न उठता है कि पूरे विश्व में केवल कुचाग्र ढकने की जो परम्परा श्लील मानी जा रही है, क्या उसे भारत को भी तद्वत् स्वीकार कर लेना है/कर लेना चाहिए? यह प्रश्न तब और भी अधिक आतंकित करने लगता है जब हर शुक्रवार को रिलीज होने वाली फिल्मों में नई-नई

बालाओं (अभिनेत्रियों) द्वारा अधिक से अधिक नंगई परोसने की होड़ लगी हो। 'आइटम सांग' नामक गीत-नृत्य में कामुक मुद्राओं को हद दर्जे तक अश्लील बना देने के लिए एक हड़कम्प मचा है। वक्ष-स्थल से परिधान का खिसकना तो हमें नागवार लग रहा है किंतु उससे भी अधिक कामुक भंगिमाओं, आदि को हम धीरे-धीरे ग्रहण करते जा रहे हैं या पूरी तरह ग्रहण कर चुके हैं। वक्षोज के पूर्ण उघाड़ को तो हमने दण्डनीय कोटि का अश्लीलत्व मान लिया किन्तु क्या किसी नवोदित सिने-तारिका का सामने से पूरी तरह खुला ऐसा वस्त्र अश्लील नहीं है जिसमें केवल कुचाग्र ही ढँके हुए हों और उस परिधान में वह हजारों-हजारों की उपस्थिति में मंच से बिना किसी झिझक के पुरस्कार प्राप्त कर रही हैं? यह वेशभूषा अनेक-अनेक हॉलीवुड बालाओं की तन-उघाड़ वेशभूषाओं को मात दे रही है।

अनेक टी. वी. कार्यक्रमों की प्रस्तोताओं, आइटम डांस-बालाओं, अनेक प्रतियोगियों की जंघा उघाड़ और ऊपर से न्यूनातिन्यून वस्त्रों में मंच पर उपस्थिति क्या अश्लीलता की कोटि में नहीं आता है? अनेक विज्ञापनों में जिस रूप में उत्पाद को बेचने के लिए कामुक मुद्राएँ अपनाई जाती हैं क्या वह आवश्यकता से अधिक अश्लीलत्व नहीं है? कई साबुनों, लिपिस्टिकों या मिसेज इण्डिया तलाशने के उत्तेजक (हॉट) विज्ञापनों में क्या अश्लीलत्व नहीं है? अश्लीलता की कसौटी केवल स्त्री को केन्द्रित कर दिए गए नए विज्ञापनों तक ही सीमित नहीं है, बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के सेनेटरी, नेपकिन के जुगुप्सापूर्ण, कुत्सित धड़ल्ले से दिखाए जा रहे विज्ञापन क्या अश्लीलत्व की कोटि में आने लायक नहीं हैं? इसी प्रकार क्या बाथरूम में पेशाब करते दिखाए जानेवाले लड़के का विज्ञापन अशोभनीय नहीं है अथवा हाल-फिलहाल की एक सफल फिल्म का गाना गाते हुए लड़के का तौलिया खोल कर पीठ करके खड़े हो जाना जुगुप्सापूर्ण नहीं है? ये सब स्थितियाँ बौद्धिक वर्ग से एक प्रतिरोधी स्वर की अपेक्षा करती हैं। इसी प्रकार कितने ही द्वयर्थक शब्दों वाले गीत, यथा 'पड़ोसी के चूल्हे से आग लै लई', 'जाड़े में पड़ोसी का लिहाफ लै लई' आदि, या 'स्लोली-स्लोली किस मी', 'चुम्मा दे दे' गीतों में अश्लीलता क्यों नहीं मानी जाती? यह अश्लीलता और भी चिन्ताकुल स्थितियाँ पैदा करती है, जब छोटे-छोटे बच्चे इन गीतों पर तथाकथित नृत्य-मुद्राओं में फूहड़ ढंग से नचाए जाते हैं। इन सब स्थितियों को देखते हुए क्या यह आवश्यकता नहीं आ पड़ी है कि छोटे परदे के समाचार-प्रसारण, नृत्य आयोजनों, विज्ञापन-प्रदर्शन, आदि के लिए अलग से एक सेंसर बोर्ड जैसी संस्था स्थापित की जाए। यों फिल्मों के लिए भी सेंसर बोर्ड है किन्तु वह भी कितना कम नियन्त्रण रख पा रहा है, यह एक सर्वज्ञात तथ्य है। सरकार किस प्रकार इस ओर अपनी भूमिका को निर्वहन कर सकती है, इस सन्दर्भ में चीन में कुछ साल पहले उठाए गए एक पग की स्मृति बार-बार आ रही है। कुछ समय पहले वहाँ विश्वप्रसिद्ध पॉप गायिका ब्रिटनी स्पियर्स को प्रदर्शन के लिए आना था। चीन की सरकार ने

प्रतिबन्ध लगा दिया था कि वहाँ प्रदर्शन के समय ब्रिटनी स्पियर्स वह वेशभूषा, परिधान धारण नहीं करेगी जो प्रायः वह ऐसे प्रदर्शनों में करती है। यह तो ज्ञात नहीं कि चीन में ब्रिटनी स्पियर्स का प्रदर्शन हुआ या नहीं किन्तु दाद देनी होगी चीन की सरकार के उस निर्णय की जिसमें उसने अपनी सांस्कृतिक दृष्टि से समझौता नहीं किया। इस घटना से एक सन्देश और निकल कर आता है कि चीन और भारत जैसे महादेश जो अपनी समृद्ध सांस्कृतिक परम्परा के धनी हैं, ही इस प्रकार के निर्णय लेकर अपनी सांस्कृतिक अस्मिता की रक्षा कर सकते हैं। राष्ट्रीय स्तर पर इस प्रकार की एक सोच विकसित करने की महती और तात्कालिक आवश्यकता है।

इस सन्दर्भ में कला जगत और साहित्य जगत की चर्चा भी आवश्यक है। अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता के नाम पर यहाँ भी काम और यौन की खुली चर्चा की वकालत की जाती रही है, वह चाहे मकबूल फिदा हुसेन द्वारा हिन्दू देवी-देवताओं के चित्रण के संदर्भ में हो, रामशरण जोशी द्वारा अपने आत्म स्वीकारों के खुले यौन और केवल यौन-चित्रण में हो, या फिर कहानी की एक विशेष धारा में केवल देह-विमर्श में हो। बात वहीं आ कर टिकती है कि कला और साहित्य में श्लील-अश्लील की क्या नव धारणाएँ हैं। कभी-कभी तो लगने लगा कि साहित्य में मल्लिका शेरवतों का आगमन हो रहा है। घर-परिवार के घेरे में स्त्री के यौन-उत्पीड़न बलात्कार आदि के खुले-खुले साहसिक ('बोल्ड') वर्णन, रति के विभिन्न आसनों में यौन-सुख का चित्रण, मुख मैथुन आदि का चित्रण और वह भी विशेषतः महिला कथाकारों द्वारा इस बात को सूचित करते हैं कि हमारी अश्लीलत्व की सीमाएँ और धारणाएँ निश्चित रूप से बदली हैं। इसे कुछ लेखिकाओं ने यौनिक स्वतन्त्रता का नाम भी दिया। यहाँ प्रश्न यही खड़ा होता है कि फिर पीली पन्नी में लिपटे फुटपथिया साहित्य और साहित्य या कहे श्रेष्ठ साहित्य में अन्तर ही क्या रहा? स्त्रीवादी स्वातन्त्र्य कामना में क्या काम-चित्रण का कोई आदर्श मानक नहीं हो सकता? स्त्री-पुरुष का मिलन-क्षण यदि साहित्य में इतने उदात्त रूप में नहीं आता है कि उसमें एक दिव्यता की अनुभूति हो सके तो वह फिर एक सामान्य यौन-चित्रण है, साहित्य की उदात्त दिव्य-भूमि से अलग! यदि आपको आत्मकथा में यही बताना है कि आप डॉ. साहब के सोफे पर बिलकुल नंगी रति-श्रम-क्लान्त रूप में लेटी हुई थीं तो इससे पाठक का क्या सरोकार है, उसे तो आप अनेक सुन्दर शब्दों, बिम्बों और काव्यात्मकता में पूर्ण स्मरणीय चित्र बना सकती थीं, यही साहित्य का प्रेय है। किसी पंचतारा होटल के रेस्तराँ विशेष में चीनी लड़कियों के मुख-मैथुन से नायिका को जीवन का जो परमानन्द आया है, क्या वह साहित्य का विषय है? वरिष्ठ पीढ़ी के मनोहर श्याम जोशी और कृष्ण बलदेव वैद के परवर्ती उपन्यासों में जो रति-सुख वर्णन है, उसका क्या कोई औचित्य या कथा में संगति बनती है? कथा-साहित्य की कुछ कृतियों-उपन्यास और कहानी दोनों में यह वर्णन दिव्यता के तन्मयी भाव से

चित्रित हुआ है, 'उर्वशी' ('दिनकर') जैसी काव्य-कृतियाँ भी इसके श्रेष्ठ उदाहरण के रूप में परिगणित कराई जा सकती हैं। ठीक-ठीक अश्लीलत्व तो नहीं किन्तु इससे लगभग मिलती-जुलती स्थिति यह बनी कि काव्य के विषय, आलम्बन, भी ऐसे बन गए कि सिनेमा की नायिकाओं पर भी वरिष्ठ कवियों ने कविताएँ लिखीं। बुढ़ौती प्राप्त हिन्दी के एक प्रतिष्ठित प्रगतिशील आलोचक ने 'नाव' फिल्म की नायिका पर कविता लिखी जिसमें उसकी देहयष्टि के अद्भुत सौन्दर्य की गद्गद प्रशंसा लिखी गई। एक अन्य कवयित्री ने मल्लिका शेरवत के 'साहस' की प्रशंसा में कविता लिखी। ये कविताएँ किसी न किसी रूप में नंगई को समर्पित अभिनेत्रियों का महिमा-मण्डन ही हैं। यदि साहित्य में यही प्रवृत्ति विकास को प्राप्त होती है तो वह दिन दूर नहीं जब बिपाशा बसु, शर्लिन चोपड़ा, आदि, आदि पर कविताएँ लिखी जाएँगी। शर्लिन चोपड़ा की तो गर्वोक्ति है, "मेरे शरीर में ऐसा कुछ पाप है ही नहीं जिसे मैं छिपाऊँ। साहित्य को इस नए 'सौन्दर्यबोध' से बचना होगा।

इस पर भी विचार मन्थन और सर्वे हुए कि 'सैक्सी'-कामुक क्या है, या कामुकता के मापदण्ड क्या हैं। अनेक पुरुषों से सर्वेक्षण में जब पूछा गया कि उन्हें स्त्री-देह में क्या सर्वाधिक आकर्षक लगता है तो किसी ने टॉगों, किसी ने जंघाओं, किसी ने मुख-सौन्दर्य तो किसी ने वक्ष-स्थल और देह के अन्य उभारों-कटावों को सौन्दर्य का घटक बताया। इसका अर्थ यह हुआ कि कामुकतापूर्ण, दाहक ('हॉट') सौन्दर्य की कोई सार्वजनीन परिभाषा नहीं बताई जा सकती। जिस प्रकार सौन्दर्य के लिए कहा गया कि 'सुन्दरता द्रष्टा की आँखों में है' ('ब्यूटी लाइज इन द आइज ऑफ बीहोल्डर') उसी प्रकार कामुकता-अश्लीलता के लिए कहा गया कि 'अश्लीलता द्रष्टा की आँखों में है। उसके दृष्टि-परिप्रेक्ष्य में है।' किन्तु श्लीलता-अश्लीलता का प्रश्न केवल व्यक्तिनिष्ठ नहीं है, उसका सामाजिक परिप्रेक्ष्य भी है। तत्कालीन सामाजिक-सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में ही युग विशेष में श्लीलता और अश्लीलता को परिभाषित किया जा सकता है यह कोई समान-बाह्य, व्यक्तिनिष्ठ अवधारणा नहीं है। सामाजिक दृष्टि और मूल्यों को मान-सम्मान हमें देना ही होगा। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य, अभिव्यक्ति स्वातन्त्र्य और कला जगत के सम्प्रभु नियमों की बात करके हम श्लीलता और अश्लीलता की मनचाही धारणाएँ नहीं बना सकते। पश्चिम या अमेरिका की नकल में हम जिस नंगई को बढ़ावा देते चले जा रहे हैं, वैश्वीकृत समाज में अपनी पिछड़ी स्थिति न पा लेने की होड़ में हम किस रूप में मीडिया द्वारा अश्लीलत्व का पोषण कर रहे हैं, वह वहाँ भी नहीं है। इसका सबसे अच्छा उदाहरण टी.वी. पर चल रहे बच्चों के अनेक 'रीयल्टी शोज' (इसका अनुवाद भी हमारे यहाँ उपलब्ध नहीं है) में बच्चों को जिस विकृति के साथ प्रस्तुत किया जा रहा है, वह सहज सुपाच्य नहीं है। बच्चों के एक ऐसे ही कार्यक्रम को अमेरिका से आए एक भारतीय सज्जन (एन.आर.आई.) देख रहे थे, उन्होंने देखा कि छोटे-छोटे बच्चे कामुक

नृत्य-गायन करते हुए एक-दूसरे की बाँहों में झूल-झूल जा रहे थे, लड़की के वक्ष पर पतली-सी पट्टी का कोई वस्त्र बँधा हुआ था तो उनकी सहज प्रतिक्रिया थी कि यहाँ तो हृद ही हो गई। अमेरिका में यदि ऐसा हो तो सबसे पहले तो रीयल्टी शोज के प्रबन्धकों को दण्डित किया जाएगा। और फिर माँ-बाप को जेल जाना पड़ेगा कि वे शिशुओं को इस प्रकार का भरण-पोषण क्यों दे रहे हैं। बच्चों पर 'बीड़ी जलाइलै' या सुनिधि चौहान आदि के कई कामुक गीत बहुत-बहुत भारी लगते हैं। 'नया मुल्ला जोर से अल्लाह-अल्लाह ही पुकारे' की तर्ज पर कहीं हम ज्यादा ही तो वैश्वीकृत समाज में घुसते नहीं चले जा रहे हैं? समय रहते ही हमें अपने लिए, अपने देश और समाज के लिए अश्लील-श्लील की अवधारणाएँ पूरी तरह स्पष्ट कर लेनी चाहिए। शब्द की साधना करने वाले इस ओर पहल कर सकते हैं।

इतिहास और साहित्य : स्मृति और स्वप्न

रमेश दवे*

इतिहास क्या हैस्मृति या जातीय स्मृति? साहित्य स्वप्न है या स्वप्न की सार्थक सृष्टि? क्या इतिहास प्रमाण है और साहित्य एक प्रकार का सांस्कृतिक विधान? क्या इतिहास सत्य की भाषा है और साहित्य सत्य के सौन्दर्य की रचना? क्या इतिहास मनुष्यगत है और साहित्य मनुष्य से मनुष्येतर? क्या इतिहास का पाठ इतिहास में ही निहित होता है और साहित्य का पाठ पाठेतर या पाठ से विलग होकर भी किया जा सकता है? क्या इतिहास एक भौतिक घटना है, और साहित्य भौतिक का भाव-सृष्टि में रूपान्तरण? यदि इसी प्रकार के प्रश्नात्मक जुमले रचते चले जाएँ तो इतिहास और साहित्य के अन्तर-सम्बन्ध और अन्तर-द्वन्द्व, 'संयुक्त और पृथक' को लेकर दोनों ही प्रकार के पाठ रचे जा सकते हैं और इन प्रश्नों पर एक अच्छी बहस पैदा की जा सकती है।

पाठ भी अन्ततः क्या है? ईगलटन तो मार्क्सवादी अवधारणा के अनुरूप पाठ को विचारधारा की अभिव्यक्ति मानता है, या पाठ को एक ऐसी वस्तु की तरह प्रस्तुत करता है जिसके जरिए विचारधारा में प्रवेश किया जा सकता है। यह मार्क्स की तो दृष्टि नहीं थी लेकिन ट्राटस्की ने पाठ को विचारधारा का प्रवेशद्वार अवश्य माना है। प्रतिबद्ध पाठ के लिए यह धारणा उपयुक्त हो सकती है किन्तु साहित्य एक सर्वव्यापी सृष्टि है जिसे यदि हर प्रकार के प्रतिबन्ध और प्रतिबद्धता में देखा गया तो साहित्य इतिहास-वस्तु की तरह एक सामाजिक उपकरण या राजनीतिक घोषणापत्र तो हो जाएगा लेकिन वह संवेदन और सौन्दर्य की स्वप्नमयी सृष्टि नहीं बन सकेगा।

इतिहास भी मनुष्य ही रचता है और साहित्य भी मनुष्य ही। साहित्य का इतिहास लिखा जा सकता है और इतिहास को भी कल्पनाशीलता से जोड़कर साहित्य में उतारा जा सकता है। साहित्यिक रूपान्तरण के ज़रिए इतिहास और साहित्य दोनों स्मृति भी हो सकते हैं और स्वप्न भी। स्मृति का एक स्पेस होता है, इसलिए इतिहास

* रमेश दवे, से.नि. प्रोफेसर एवं पूर्व यूनिसेफ प्राध्यापक सलाहकार, अध्यक्ष, म.प्र. राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, भोपाल, 'समावर्तन'प्रधान संपादक, पता : एसएच-19, ब्लॉक-8, सहयाद्रि परिसर, भदभदा रोड, भोपाल462003, (म.प्र.)।

अपना स्पेस भी बनाता है। जिन्हें हम घटनाएँ, तिथियाँ और विकासक्रम कहते हैं, मोटे तौर पर उन्हें काल-संज्ञा या समय में देखा जाता है लेकिन दरअसल यह काल-संज्ञा या समय साहित्य में स्वयं से अतिक्रमण कर जाते हैं। इसलिए साहित्य समय और स्पेस दोनों से ऊपर है।

स्मृति के अनेक परिप्रेक्ष्य हैं। वह ऐतिहासिक भी है, प्रागऐतिहासिक भी, भौतिक भी और स्वप्नमयी भी। स्मृति और स्वप्न दोनों ही तो मनुष्य ने अपने ही अन्दर रचे और खोजे हैं। दोनों के मनोविज्ञान हैं, दोनों के दर्शन हैं और दोनों के जीवनगत सत्य, सौन्दर्य और संवेदन हैं। मनुष्य अपना इतिहास आखिर रचता क्यों है? यदि हम वृक्ष का इतिहास लिखें तो वह वृक्ष की प्राकृतिक स्थितियों का इतिहास होगा, पृथ्वी का इतिहास लिखें तो वह ब्रह्माण्ड से लेकर पृथ्वी तक की खगोलीय या भूवैज्ञानिक गाथा होगी, जल का इतिहास लिखें तो वह पानी की प्राकृतिक और मनुष्यनिर्मित स्थितियों का इतिहास होगा। हम यह नहीं कह सकते कि पानी इस तिथि को पैदा हुआ, इस तिथि को नदी, नाले, जल, समुद्र में बदला और इस तिथि को मनुष्य ने उसे अपने जीवन से जोड़ा। इसलिए इनका इतिहास एक प्रकार से स्थिति-निरूपण है। मनुष्य का इतिहास एक प्रकार का सृष्टि-क्रम है। उसके मनुष्य बनने से लेकर उसके अद्यतन होने तक की प्रक्रिया ऐतिहासिक है यहाँ तक कि प्राणिशास्त्रीय होकर भी विकासक्रम की एक निरन्तर चलती प्रक्रिया। मनुष्य ने अपने लिए समय रचा, स्पेस रचा और जन्म से मृत्यु तक का एक क्रम भी पहचाना। इसलिए इतिहास एक प्रकार से क्रम की स्थापना है और इस क्रम को खंडित करके या उलांघ कर जाना साहित्य का काम है। इसलिए साहित्य एक ब्रह्माण्डीय स्वप्न है, जबकि इतिहास एक भौतिक उपस्थिति।

इतिहास भारतीय अवधारणा में पश्चिमी अवधारणा से बिल्कुल ही पृथक है। महाभारत एक प्रकार से इतिहास है लेकिन वह आधुनिक इतिहास के किसी भी रूप या रूपक का प्रतिबिम्ब नहीं। इसीलिए इतिहास भारतीय चिन्तन-प्रणाली में एक प्रकार का रूपक है जो अध्यात्म, दर्शन और मनुष्य के जीवन-गत कर्म से जुड़ा एक प्रकार का साहित्य ही है। यहाँ हम प्राचीन या अर्वाचीन या आधुनिक का भेद नहीं करते क्योंकि रूपक का कोई क्रम या तिथिक्रम नहीं होता। इसलिए यह आवश्यक है कि इतिहास की वर्तमान दृष्टि को भारतीय इतिहास-प्रत्यय पर नहीं थोपा जाए। भारत में इतिहास सत्य का सौन्दर्य है, सौन्दर्य का सत्य है, वह स्मृति भी है, स्वप्न भी; वह जीवनगत भी है और जीवन-मुक्त भी, वह मनुष्यगत है और मनुष्येतर भी। इसीलिए इतिहास हमारे बौद्धिक ज्ञान के बजाय आध्यात्मिक चिन्तन और दर्शन की सृष्टि है, साहित्य भी है और इन सबसे युक्त स्मृति भी।

इतिहासकारों ने इतिहास को अपने-अपने ढंग से परिभाषित किया है, यहाँ तक कि इतिहास-विज्ञान के रूप में हिस्ट्रियोग्राफी जैसे विषय की स्थापना भी की

है। इसके विपरीत साहित्यकारों का इतिहास-चिन्तन न केवल इतिहास-विरोधी है बल्कि इतिहास और इतिहासकार उनके लिए साहित्य की व्यंग्यवस्तु भी हैं। यहाँ कुछेक साहित्यकारों के इतिहास-विचार प्रस्तुत करना उपयुक्त होगा।

‘लाइफ ऑफ जॉनसन’ के जीवनी लेखक और वॉचडॉग के नाम से प्रसिद्ध बॉसवेल ने जॉनसन का इतिहास सम्बन्धी मत इस प्रकार व्यक्त किया है—‘एक इतिहासकार के लिए बहुत बड़ी योग्यताओं की जरूरत नहीं होती और उच्च स्तर की कल्पना की तो उसे बिल्कुल ही आवश्यकता नहीं है।’ इसका तात्पर्य यही भी है कि इतिहासकार तो मात्र तथ्यों का एक सामान्य लेखक है और ये तथ्य उसे सरलता से या कुछ हद तक खोज करने पर मिल जाते हैं। इसलिए इतिहास को वह अपनी वैचारिक मौलिकता और साहित्यिक कल्पनाशीलता से लिखने के बजाय दस्तावेजों, घटनाओं और स्थितियों के तथ्यों के आधार पर लिख देता है जो मात्र एक भौतिक कसरत है।

ई.एम. फास्टर जैसे उपन्यासकार का यह वाक्य ‘एविन्जर हारवेस्ट’ को पढ़ने के दौरान (अपनी डायरी में लिख देने के कारण) इतिहास को लेकर याद आ गया। फास्टर तो इतिहास-लेखकों को एक प्रकार की चुनौती देते हुए कहते हैं—‘इतिहासकारों को कुछ हद तक यह विचार करना चाहिए कि जो लोग इतिहासकार नहीं हैं वे कैसा व्यवहार करते हैं और कैसे जीते हैं। यदि ऐसा नहीं किया गया तो इतिहासकार केवल मृतकों के बीच मंडराने वाला व्यक्ति बनकर रह जाएगा।’ इतिहास अतीत की याद न होकर, वर्तमान का जीवन भी है। वह नायकों, योद्धाओं और नेताओं के कारनामों की कथा न होकर, इतिहास-वंचित लोगों के जीवन के तरीकों का भी लेखा-जोखा है। इसलिए इतिहास को अपने अतीत-मोह से मुक्त होकर या अतीत में रहकर भी खोजना होगा मनुष्य के जीवन की उस गति को, जिसने मनुष्य को आदिम से आधुनिक तक बनने का संघर्ष सिखाया है।

डॉ. कृष्ण बलदेव वैद ने अपना शोध अमरीकी उपन्यासकार हेनरी जेम्स के कथा-साहित्य, खासकर उपन्यासों को लेकर किया है। वैदजी पर काम करते हुए जब हेनरी जेम्स की पुस्तक ‘लाइफ ऑफ नाथानियल हॉथार्न’ पढ़ी तो इतिहास के एक विद्यार्थी के नाते इस वाक्य से टकराहट हुई—‘थोड़ा-सा भी साहित्य रचने के लिए ढेर सारे इतिहास की जरूरत होती है।’ इतिहास साहित्य नहीं है लेकिन अंग्रेजी में वाल्टर स्काट और हिन्दी में वृन्दावन लाल वर्मा ने जिस प्रकार इतिहास को साहित्य में रचा, उसे पढ़कर लगता है कि इतिहास को साहित्य में उतारने के लिए कितनी बड़ी चुनौती एक साहित्यकार के सामने होती है। कथा के कथ्य को तथ्य बनाया नहीं जा सकता और कथ्य को केवल तथ्यों की भीड़ से रचा नहीं जा सकता। इसलिए जेम्स जॉयस तो मानता था कि—‘इतिहास एक प्रकार का दुःस्वप्न है जिससे जागने या भागने की कोशिश एक लेखक करता रहता है।’ इतिहास को जब हम स्मृति

कहते हैं तो अतीत में आते हैं लेकिन वही इतिहास जब साहित्य में उतरता है तो अतीत और वर्तमान दोनों से मुक्त अपनी जगह साहित्य के रूप में ही रचता है। इतिहास का साहित्य बनना इसीलिए समयमुक्त या काल और तिथिक्रम से मुक्त होना भी है। इस बात को डब्ल्यू.एच. ऑडेन ने एक लेखक के आन्तरिक द्वन्द्व को पहचानते हुए कहा था “मनुष्य इतिहास-निर्माता प्राणी है जो न तो अपने अतीत को दोहरा सकता है, न उसे पीछे छोड़ सकता है।”

मार्क्स और हीगेल में तो इतिहास को लेकर एक प्रकार की नॉक-झोंक ही हुई थी। मार्क्स तो मनुष्य के ऐतिहासिक विकास के सिद्धान्त को मानता ही है। मार्क्स, फ्रायड, काफ़्का आदि अपने-अपने इतिहासबोध में एक-दूसरे से अलग हो सकते हैं लेकिन डॉरविन के इतिहास और विकास के सिद्धान्त को तो न मार्क्स अपने भौतिक द्वन्द्ववाद से खारिज करता है, न फ्रायड इड या इगो और लिबिडो से और न काफ़्का अपनी यन्त्रणाओं के संसार से। मार्क्स तो हीगेल के विचार पर टिप्पणी करते हुए कहता है “हीगेल कहता है कि विश्व इतिहास की समस्त महान घटनाएँ और व्यक्तित्व किसी न किसी प्रकार से पुनः प्रगट होते हैं लेकिन हीगेल या कहना भूल गया कि ऐसी घटनाओं और व्यक्तित्वों का पहली बार प्रगट होना एक त्रासदी या ट्रेजेडी है, और दूसरी बार पुनः प्रगट होना एक प्रकार का मजाक।” इसलिए शायद टॉल्स्टाय भी यह मानता था कि “इतिहासकार तो एक प्रकार से बहरा आदमी है जो ऐसे सवालों का जवाब देता रहता है, जो सवाल कोई उससे पूछता ही नहीं।” इस मजाक को वाल्टेयर ने उस समय के युद्धोन्मादी योरप को पहचानते हुए सुनाया था और कहा था कि “इतिहास एक ऐसा नाटकीय प्रदर्शन है जो अपराधों और दुर्भाग्यों से भरा हुआ है।”

अब प्रश्न यह है कि यदि यही सब कुछ हमारी स्मृति की सुरक्षा के नाम पर इतिहास है तो इतिहास का साहित्य में अवतरण एक प्रकार से साहित्य की स्वायत्त कल्पनाशीलता के लिए भी खतरा है। साहित्य जीवन को जीवन की तरह ही नहीं लिखता, वह तो जीवन का एक कलात्मक विकल्प रचता है। विकल्प का स्वप्न देखना ही एक साहित्यकार का रचनाकर्म है और इस स्वप्न को शब्दों में बदलना उसकी कल्पनाशीलता का प्रमाण है। कहते हैं कि फ्रांस की राज्यक्रान्ति, नेपोलियन और शेक्सपीयर पर विश्व में सर्वाधिक पुस्तकें लिखी गईं। इतिहास की महान घटना फ्रांस की राज्यक्रान्ति और महान व्यक्तित्व नेपोलियन आज न तो हमारे जीवन-विषय हैं और न कला विषय, यहाँ तक सौन्दर्य और संवेदन विषय भी नहीं रहे, जबकि शेक्सपीयर का होना एक महान घटना है और शेक्सपीयर एक कवि-नाटककार के रूप में सार्वकालिक या कालजयी व्यक्तित्व भी है। इसी तरह सोवियत रूस की बोलशेविक क्रान्ति केवल इतिहास का एक मृत विषय बनकर रह गई, लेकिन दुनिया में जब तक मनुष्य का अस्तित्व है, मार्क्स सहमति-असहमति के साथ हमारे

संवेदन-तन्त्र में हमेशा उपस्थित रहेगा। स्वप्न जब साहित्य और विचार बनता है तो वह मृत्यु से मुक्त हो जाता है और वह अपने अतीत, वर्तमान, भविष्य तीनों में मौजूद होने के कारण इतिहास-समय का अतिक्रमण कर जाता है।

जहाँ तक साहित्य का प्रश्न है, वह स्वप्नदर्शी बनाता है, कल्पना की रागभूमि से लेकर ब्रह्माण्ड तक की यात्रा करवाता है। यदि एक साहित्यकार स्वप्न देखना बन्द कर दे तो उसका सृजन अपने आप बन्द हो जाएगा। वह स्वप्न में मनुष्य भी देखता है और जो कुछ मनुष्येतर है, वह भी देखता है। वह तर्कबद्ध, तत्त्व-निर्दिष्ट और तथ्य-परक कुछ नहीं देखता। वह तो एक प्रकार की ऐसी मूर्च्छा में जीता है, जिसमें उसे अपने अस्तित्व का विलय महसूस होता है। मूर्च्छा टूटते ही जब वह ठोस धरातल पर आता है तो सारे स्वप्न गायब हो जाते हैं; वह अपनी कल्पनाशीलता गँवा बैठता है। स्वप्न से वह अपने शब्द या अपनी भाषा ही नहीं लेता बल्कि जो जो रंग, बिम्ब, रूप, अरूप, लय, विलय, उसे दिखाई देते हैं, वे सब उसके सृजन में अवतरण करने लगते हैं। प्रकृति हो या मनुष्य, सभी उसके लिए सृष्टि की कलात्मक रचनाएँ हैं, चाहे वे फिर साकार हों या निराकार। यही कारण है कि एक सर्जक अपने साहित्य में जब शब्द से चित्र बनाता है तो पाठक को उसमें चित्र दिखाई देते हैं; जब वह शब्दों की ध्वनि सुनता है तो उसे लगता है शब्द मुखर हैं तो वह उनका संगीत है और मौन हैं तो संगीत का चरम-सौन्दर्य। ऐसे स्वप्न अगर साहित्यकार के पास नहीं आते हैं तो वह स्वयं कुछ स्वप्न रचता है, जो जाग्रत स्वप्न होते हैं। प्रसाद के पास छांदोग्य उपनिषद, शतपथ ब्राह्मण, मनु-स्मृति आदि से जो भी स्वप्न आए हों यदि उन स्वप्नों को प्रसाद अपने जाग्रत स्वप्न नहीं बनाते तो श्रद्धा और इड़ा का जन्म न होता, श्रद्धा, कामायनी नहीं बनती। इसी तरह मुक्तिबोध की ‘ब्रह्मराक्षस’, अज्ञेय की ‘असाध्य वीणा’, नरेश मेहता की ‘संशय की एक रात’, धर्मवीर भारती का ‘अंधायुग’ या ‘कनुप्रिया कुँवरनारायण’ का ‘आत्मजयी’ आदि अनेक कल्पनाशील कृतियाँ हिन्दी साहित्य की क्लासिक कृतियाँ न कहलातीं। एक कवि या सर्जक मनु को रचे या होरी को, मनु वायवी, काल्पनिक, पौराणिक लग कर भी एक चरित्र लगते हैं मनुष्य का ही, और होरी कितना भी बड़ा यथार्थ हो लेकिन होरी में दारिद्र्य की वेदना और मजबूरी का जो संवेदनशील चरित्र रचा गया है, उससे एक सर्जक की चेतना का वह सौन्दर्य प्रकट होता है, जो मनुष्य को मनुष्य के साथ-साथ गरीबी, लाचारी और प्राणान्तक मर्म की पीड़ा की भाव-संज्ञा में बदल देता है। ये भाव-संज्ञाएँ चाहे प्रसाद रचें या प्रेमचन्द, वे अपने अलग-अलग संवेदन के साथ हैं तो भी एक सर्जक के कलात्मक स्वप्न और सौन्दर्य की ही कृतियाँ हैं।

स्वप्न को भी अनेक कवि, सर्जकों ने अलग-अलग ढंग से देखा है और अपने विचार रखे हैं। टेनीसन कहता है “स्वप्न भी सत्य ही हैं जब तक वे हमारे पास हैं और क्या उस समय हम सचमुच स्वप्न में रहने और जीने नहीं लगते?” डब्ल्यू.बी.

येट्स जैसा हमारे समय का सर्वाधिक प्रतिभाशाली कवि स्वप्न को कविता की तरह ही देखता है जब वह कहता है : “मैंने तुम्हारे पाँव-तले अपने स्वप्न बिछा दिए हैं; अब तुम बहुत ही कोमल-कोमल पग धरो क्योंकि याद रखो, तुम मेरे स्वप्नों पर चल रहे हो”। साहित्य स्वप्न भले ही रचे, लेकिन वह कोई नर्क नहीं रचता। वह तो नर्क को भी अपने में उलझा कर सौन्दर्य बना देता है जिसे अंग्रेजी में ‘लिम्बो’ कहा गया जैसा दांते ने किया भी। लिम्बो की चर्चा करते हुए मैथ्यू ऑरनोल्ड कहा करता था “लिम्बो ऐसी स्थिति है जिसमें व्यक्ति दो-दो दुनियाओं में भटकता रहता है एक है मृत दुनिया और दूसरी इतनी अशक्त कि वह कुछ पैदा ही नहीं कर सकती”। साहित्य ऐसी दुनिया का न तो स्वप्न देखता है, न इतना अशक्त है कि कुछ रच न सके। एज़रा पाउण्ड तो साहित्य को इतनी बड़ी ताकत मानता था कि अक्सर कहा करता था कि “साहित्य ऐसा समाचार है जो समाचार को भी उसी की जगह पर ठहरा देता है।” इसीलिए यह माना गया है कि साहित्य की श्रेष्ठतम पुस्तकों को पढ़ना एक प्रकार से अपने पूर्वजों से बतियाना है; पूर्वजों से बतियाना अर्थात् स्वप्न देखना और उस स्वप्न को रचना बना देना।

साहित्य अपने सभी स्वप्न भाषा में देखता है। भाषा के तीन रूप होते हैं एक है भाषिक, दूसरा सांस्कृतिक और तीसरा सामाजिक। भाषिक पक्ष भाषा की संरचना और व्याकरण से जुड़ा है, सांस्कृतिक पक्ष के अन्तर्गत साहित्य, चिन्तन, दर्शन, अध्यात्म और कलाएँ आ जाती हैं; सामाजिक पक्ष के अनेक कोने हैं जिसमें राजनीतिक कोना सर्वाधिक शक्तिशाली कोना माना जाता है। समाज साहित्य की भाषा अपने दैनंदिन जीवन में न बोलता है, न लिखता है। समाज का अपना भाषा-विधान होता है जिसे वह कहावतों, लोकोक्तियों, मुहावरों, दन्तकथाओं आदि से आजमाता रहता है जो अधिकतर वाचिक होता है। जब भाषा का सांस्कृतिक पक्ष आता है तो साहित्य उसका सर्वाधिक बौद्धिक चिन्तनमूलक और सर्जनात्मक पक्ष होता है। इसलिए जन-भाषा, लोकभाषा और साहित्यिक-भाषा एक-दूसरे से मेल नहीं खातीं। जन-भाषा और लोकभाषा में साहित्य रचा जा सकता है लेकिन ऐसा साहित्य लोक-साहित्य ही कहलाता है। जब हम हिन्दी-साहित्य कहते हैं तो जन-भाषा का वाचिक रूप साहित्य में प्रयोग के रूप में भले ही अपना लें, लेकिन हम रचते हैं उस भाषा की संरचना और मानक रूप में ही। फणीश्वरनाथ रेणु, कृष्णा सोबती, कृष्ण बलदेव वैद, विनोद कुमार शुक्ल, मनोहर श्याम जोशी आदि कथाकार भाषागत विचलन करते हैं, संरचनाएँ खण्डित करते हैं, व्याकरण की जकड़न ढीली करते हैं लेकिन इस सबके बावजूद जो भाषा वे सृजन में उतारते हैं वह होती है मानक भाषा का ही रूप। जायसी, कबीर, तुलसी, सूर, मीरा किसी ने हिन्दी में काव्य-रचनाएँ नहीं कीं। यहाँ तक कि पूरा भक्ति-साहित्य और सूफी साहित्य भी मानक हिन्दी में नहीं है। फिर भी उन्होंने लोकभाषा की सर्जनात्मकता को इस तरह प्रमाणित किया कि

उनकी लोकभाषा ही काव्य-भाषा बन कर सर्वव्यापी हो गई, यहाँ तक कि हिन्दी की मानकता और उसके साहित्य का अतिक्रमण कर काव्य के श्रेष्ठत्व और सांस्कृतिक सौन्दर्य का लोक-प्रमाण बन गई। अमरीकी उपन्यासकार इसाक सिंगर ने यिडिश में जब अपने उपन्यास लिखे तो उन्होंने अंग्रेजी के मानक वर्चस्व को खण्डित किया, ऐसा ही कुछ हद तक सेम्युअल बेकिट ने भी किया। जब हम अंग्रेजी साहित्य में जेम्स जॉयस और वर्जीनिया वुल्फ का नाम लेते हैं तो उन्होंने जिस स्ट्रीम ऑफ कांशसनेस या चेतना-धारा का सृजन किया वह भाषा का शिल्प बना और चूँकि वह शिल्प रचना पर आजमाया गया था, इसलिए वह साहित्य बना। इसका एक अर्थ यह है कि साहित्य की भाषा सिर्फ भाषा नहीं होती, बल्कि साहित्य में आकर वह शिल्प हो जाती है। स्वप्न भी जब सृजन में उतरता है तो शिल्प बनकर ही उतरता है। यथार्थ का यथार्थ तो यह है कि वह कितना भी बड़बोला, रेटरिक, द्वन्द्वात्मक, प्रगतिशील हो, लेकिन उसे यथार्थ में भी कला की तरह तो प्रगट होना ही होता है। घीसू-माधव का यथार्थ कितना भी बड़ा यथार्थ हो लेकिन उस यथार्थ में संवेदना और मर्म को पिरो देने की कला तो प्रेमचन्द की है। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि यथार्थ निहायत कलाविहीन होता है।

यथार्थवाद पर जब साहित्यकार बहस करते हैं तो उनके पास एक ही पैमाना होता है और वह है द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के जरिए साहित्य के आदर्श को नकारना और यथार्थ को तरह-तरह की प्रतिबद्धता का नाम देना। आदर्श भले ही एक स्वप्न हो, लेकिन वह आदर्श का यथार्थ और यथार्थ का आदर्श हो सकता है। राम एक आदर्श चरित्र है लेकिन उनका एक यथार्थ ऐसा मनुष्य है जो आदर्श से बाहर के लोक का निवासी भी है। इसलिए सीता को बनवास देना राम के आदर्श के बजाय लोक-मर्यादा के नाम पर उनकी मानवीय कमजोरी या प्रतिरोध के अभाव का यथार्थ है। कृष्ण एक सम्पूर्ण भौतिकवादी यथार्थ ही आजमाते हैं बचपन से लेकर महाभारत तक, लेकिन फिर भी उनमें एक योगीश्वर की कल्पना की जाती है जो आदर्श है अर्थात् कृष्ण का यथार्थ ही उनका आदर्श भी है क्योंकि यथार्थ में उनकी लोकलीला है और आदर्श में उनकी गीता। वाल्मीकि का यथार्थ राम, तुलसी का आदर्श है। व्यास के महाभारत का कृष्ण आदर्श और यथार्थ का संयुक्त संस्करण है। राम राजवंश की सामंती संस्कृति के यथार्थ में जन्म लेने के बावजूद अन्तिम सामंत बन कर राजतन्त्र के संचालक हैं। साहित्यकार ऐसे ही स्वप्न बुनता है या चुनता है, तभी किसी राम, कृष्ण, मनु, श्रद्धा, इडा आदि की रचना होती है। एक मनुष्य-चरित्र को साहित्य के जरिए कला में रूपान्तरित कर देना ही तो स्वप्न को यथार्थ में और यथार्थ को स्वप्न में बदल देने की करामात है।

यदि ये सब बहस इतिहास के साथ जोड़ कर देखी जाए तो राम और कृष्ण इतिहास न होकर भी इतिहास हैं क्योंकि वे हमारी स्मृति के हर कोने में उपस्थित

हैं। राम या कृष्ण को पौराणिक या मिथकीय मानने के बावजूद उनकी मानवीय उपस्थिति प्रमाण है इस बात का कि हमारा यदि कोई स्मृति में स्थान पाने वाले पूर्वज हैं तो वे राम हैं, कृष्ण हैं या ऐसे तमाम चरित्र हैं जो मनुष्य के बीच मनुष्य जैसे भी हैं और अपनी-अपनी शक्तियों एवं प्रभाव में, मनुष्येतर यानी देव-प्रतिमाएँ भी। साहित्य स्वप्न की ऐसी ही प्रतिमाएँ रचता है और जब प्रतिमाएँ प्राणवान हो जाती हैं तो हमारे जीवन का हिस्सा हो जाती हैं। इसलिए यदि इतिहास हमारी स्मृति का हिस्सा है तो साहित्य हमारे स्वप्न की धरोहर या हमारे स्वप्न की सार्थक परिणति। शायद यही वजह है कि कन्फ्यूशस कहता था कि सपने देखना बन्द कर दोगे तो आँखें निरर्थक हो जाएँगी।

साहित्य कितना भी विश्वव्यापी या लोकप्रिय क्यों न हो जाए, वह जन्म तो लेता है अपने ही सांस्कृतिक, सामाजिक और प्राकृतिक परिवेश में। इस सांस्कृतिक-सामाजिक परिवेश को बार्थ ने Ecriture (एकृच्यूर) कहा है। अनेक महान रचनाएँ ऐसी हैं जो अपने अंचल में, परिवेश में, यहाँ तक कि छोटे-से गाँवों में जन्मीं लेकिन उनका फलक, सौन्दर्य, संवेदन और कलात्मक रचाव इतना उत्कृष्ट था कि वे विश्व-व्यापी हो गईं। शेक्सपियर जिस स्टेफर्ड-पार-एवन में रहा, वह ब्रिटेन का छोटा गाँव या कस्बा है, वर्ड्सवर्थ जिस लैक जिले में रहा, वह भी एक मनोरम पहाड़ी स्थल है, तुलसीदास उत्तरप्रदेश के बाँदा जिले के राजापुर गाँव में जन्मे, प्रेमचन्द भी ग्रामीण परिवेश से उपजे थे और रेणु ने तो परिवेश की आंचलिकता को अमर ही कर दिया। इसलिए कलावादी यदि उत्कृष्टता का कोई शहरी रूपक रचे तो परिवेश उसे तोड़ देता है और यथार्थवादी यदि यह कहें कि यही जीवन-यथार्थ का श्रेष्ठतम है तो उस श्रेष्ठतम को भी यथार्थ की संवेदना और शिल्प खण्डित कर देता है। इसलिए साहित्य में भले ही इतिहास उतारा जाए, संस्कृति-बोध उत्पन्न किया जाए या सामाजिक सरोकार रचे जाएँ मगर साहित्य को सर्वप्रथम साहित्य होना चाहिए संवेदन और सौन्दर्य दोनों स्तर पर, तभी जाकर सृजन की अमूर्त सृष्टि भी और यथार्थ की मर्मदृष्टि भी साहित्य बनेगी वरना यथार्थ के नाम पर समाज, गरीब, अमीर, द्वन्द्व आदि की शब्दावली से चीखने के कारण वह रचना मंच-प्रिय भले ही हो जाए लेकिन साहित्य-पाठकों और यहाँ तक कि लोकजीवन में भी स्वीकार नहीं होगी। साहित्य के तीन प्रकार से लोकप्रिय होने की बात तुलनात्मक अध्ययन से पता चलती है। एक है सौभाग्य (लक), दूसरा सम्प्रेषण या कम्युनिकेशन और तीसरा है स्वीकृति या एक्सेप्टंस।

“सौभाग्य” से कोई कृति या सर्जक विश्व-विख्यात हो जाए ऐसे उदाहरण साहित्य ही नहीं विज्ञान तक में मिलते हैं। अगर सोल्जेनित्सिन को देशनिकाला नहीं दिया जाता तो *इनर सर्कल*, *केन्सर वार्ड* जैसी रचनाएँ शायद नोबेल पुरस्कार का पात्र सोल्जेनित्सिन को बना देने के बावजूद विश्व भर में महान लेखक की कतार में खड़ा

नहीं करतीं। क्योंकि सोल्जेनित्सिन टॉल्स्टॉय, चेखोव, दॉस्तयेवस्की या गोर्की की तरह तो हैं नहीं। वैज्ञानिक और विज्ञान लेखक सखारोव, कवि-कथाकार बोरिस पेस्तरनॉक भी तत्कालीन सोवियत रूस के प्रतिबन्धों में रहकर अपनी रचना को ऐसा सौभाग्य दिला सके। पाब्लो नेरूदा को तो नोबेल पुरस्कार शान्ति का मिला मगर सौभाग्य से वे साहित्य में जितने मशहूर हुए उतने शान्तिकर्मी के रूप में नहीं। ‘संचार’ या सम्प्रेषण का जहाँ तक प्रश्न है, प्रौद्योगिकी, विज्ञापनवाद और वैश्विक बाजारवाद के जमाने में एक साहित्यिक कृति भी फिल्मों की तरह प्रमोशन चाहती है। विक्रम सेठ का *सूटेबल बॉय* संचार शक्ति का ही प्रमाण है। सलमान रश्दी, झुम्पा लाहिड़ी, अनिता और किरण देसाई, अरुंधती रॉय और ऐसे अनेक सर्जक-लेखक हैं जिन्हें संचार और विज्ञापन ने महत्त्वपूर्ण लेखक बना दिया वरना उनकी कृतियाँ महत्त्वपूर्ण होकर भी किसी भारतीय प्रकाशक के सामने प्रकाशन के लिए मिमियाती रहतीं और छप भी जातीं तो पाठकों के बजाय ग्रन्थालयों और दफ्तरों की थोक खरीदी में जाकर कैद हो जातीं। ‘स्वीकृति’ यह तीसरा बड़ा मुद्दा है। यदि कृति एक बार लोक स्वीकृति हासिल कर ले तो उसे फिर किसी विज्ञापन, सौभाग्य या प्रमोशन की जरूरत नहीं होती। तुलसी का रामचरितमानस, प्रेमचंद के उपन्यास और कहानी संग्रह, दीपक चोपड़ा की चिन्तनशील और अध्यात्म-उन्मुख किताबें, धर्मवीर भारती का ‘गुनाहों का देवता’ जैसी कृतियाँ, (जो भारती जी की अन्य कृतियों के मुकाबले कमजोर है) एक बार लोक स्वीकृति और पाठक-स्वीकृति हासिल कर लेती हैं तो वह स्वीकृति लेखक की स्थापना है, उसके स्वप्न की सार्थकता और यदि वह अपना भविष्य रचती है, तो अतीत की स्मृति के रूप में कालजयी भी हो सकती है।

इस सारे विमर्श का तात्पर्य यह है कि इतिहास हमारी चेतना है, हमारे पूर्वज-समय की स्मृति है और साहित्य के लिए वह कच्चा माल भी है, अगर इतिहास का साहित्य में कल्पनाशील ढंग से उपयोग किया गया तो। वरना वह साहित्य में भी एक प्रकार का इतिहास लेखन ही होगा। इतिहास को साहित्य में स्मृति या जातीय-स्मृति का सौन्दर्य, संवेदन और शिल्प बनकर उतरना होगा। स्मृति को भी स्वप्न या कल्पना बनाना होगा। श्रेष्ठतम कृति का जन्म तो तभी होता है जब एक सर्जक कवि, कथाकार, नाटककार या अन्य किसी भी विधा का लेखक कामायनी की तरह स्वप्न देखे, गोदान की तरह स्वप्न देखे, रागदरबारी की तरह स्वप्न देखे या अन्धेरे में किसी ब्रह्मराक्षस का आवाहन करे। इतिहास मात्र वस्तु न बने बल्कि वह विम्ब बने, रूपक बने, साहित्य का सौन्दर्य और संवेदन बने। ऐसा इतिहास साहित्य होगा जिसका निर्माण स्मृति की ज़मीन पर भी होगा और स्वप्न के ब्रह्माण्ड में भी।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर और हिन्दी साहित्य में छायावादी आन्दोलन

विमला उपाध्याय*

हिन्दी साहित्य में सन् 1918 ई. से 1943 ई. के काल को छायावाद युग के नाम से जाना जाता है। 1918 ई. के आसपास द्विवेदीयुगीन नीरस उपदेशात्मक, इतिवृत्तात्मक और स्थूल आदर्शवादी काव्यधारा के बीच से प्रमुखतः रीतिकालीन काव्य-प्रवृत्तियों के विरुद्ध विद्रोह के रूप में जो काव्यधारा विकसित हुई, वही छायावाद है। यह नई काव्यधारा अंग्रेजी के रोमांटिसिज्म तथा बंगला के कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर की काव्यधारा के ढंग की है और उससे प्रभावित भी है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार 'पुराने ईसाई सन्तों के छायाभास तथा यूरोपीय काव्य क्षेत्र में प्रवर्तित आध्यात्मिक प्रतीकवाद (Symbolism) के अनुकरण पर रची जाने के कारण बंगाल में ऐसी कविताएँ छायावाद कही जाने लगी थीं। अतः हिन्दी में भी इस तरह की कविताओं का नाम 'छायावाद' चल पड़ा। छायावाद नाम के प्रचलन का जो भी कारण हो, परन्तु इसमें दो मत नहीं कि सन् 1920 ई. के आसपास ही इस नवीन काव्यधारा का छायावाद नाम प्रचलित हो गया था। उस समय छायावाद शब्द का प्रयोग अंग्रेजी के मिस्टिसिज्म के अर्थ में होता था। 1917 ई. के मई मास की 'सरस्वती' में हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'सुकवि किंकर' उपनाम से एक लेख लिखा था जिसमें उन्होंने रवि बाबू की कविता को मिस्टिक या रहस्यवादी माना था। उन्होंने हिन्दी में प्रचलित छायावाद पर टिप्पणी करते हुए लिखा था "छायावाद से लोगों का क्या मतलब है, कुछ समझ में नहीं आता। शायद उनका मतलब हो कि किसी कविता के भावों की छाया कहीं अन्यत्र जाकर पड़े, तो उसे छायावादी कविता कहना चाहिए।" (साहित्य कोश, भाग एक, पृष्ठ 324) स्पष्टतः महावीर प्रसाद द्विवेदी छायावाद को बंगला की रहस्यवादी कविताओं का अनुकरण या छायानुवाद मानते थे।

छायावाद को वे दो अर्थों में ग्रहण करते थे एक तो रहस्यवाद के सीमित अर्थ में और दूसरे प्रतीकवाद या चित्र भाषावाद की अभिव्यंजना प्रणाली या काव्यशैली के

* प्रो. विमला उपाध्याय*, डी.लिट., वृन्दावन, मनोरम नगर, एल.सी. रोड, धनबाद-826001 (झारखण्ड)।

व्यापक अर्थ में। वस्तुतः छायावाद मध्यवर्गीय चेतना के विद्रोह का दूसरा नाम है। इस विशिष्ट काल की परिस्थितियों और विचारधाराओं ने विविध रूप में जीवन और काव्य को प्रभावित किया था। पूँजीवाद का विकास और व्यक्तिवाद का जन्म, स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियों का उदय, प्रथम महायुद्ध का प्रभाव, राजनीति के क्षेत्र में 'महात्मा गाँधी' का आन्दोलन और सम्पूर्ण समाज में स्वातन्त्र्य प्रेम का जागरण, नई पीढ़ी पर पश्चिमी सभ्यता का रंग चढ़ना तथा अंग्रेजी रोमांटिक कवियों से प्रभावित होना, कवीन्द्र रवीन्द्र के प्रति श्रद्धा, बंगाल में ब्रह्म समाज का आन्दोलन और राजा राममोहन राय के विचार, स्वामी दयानन्द सरस्वती का कर्मकांडी वैष्णव धर्म के विरुद्ध आन्दोलन, इन विभिन्न सांस्कृतिक परिस्थितियों ने मिलजुलकर छायावाद को जन्म दिया। छायावादी आन्दोलन के प्रमुख घटक तथा छायावाद की प्रमुख प्रवृत्तियों के आलोक में रवीन्द्रनाथ ठाकुर की काव्य प्रवृत्तियों का अध्ययन इस निबन्ध का अभीष्ट है। अध्ययन-विवेचन के क्रम में तुलनीय हिन्दी छायावादी कवियों के साक्ष्यों पर भी किंचित प्रकाश डालना वांछनीय है।

स्वच्छन्दतावाद :

स्वच्छन्दतावाद के मूल तत्त्व हैं प्रकृति, देश-प्रेम, वन-वैभव और एकांत प्रणय और इनमें सर्वोपरि है वैयक्तिक स्तर पर विद्रोह का भाव। बालकाल से ही उनमें प्रकृति के प्रति अनन्य प्रेम है। वे नौकरों के अनुशासन में रहना पसन्द नहीं करते। उनका मन आकाश में हुमड़ते-धुमड़ते मेघों को देखकर मोर की तरह नाचने लगता। सन्ध्या होती हुई दीख पड़ती, आँखें सड़क की मोड़ पर लग जातीं। पानी पड़ जाए, तो मास्टर साहब आ न सकें, छुट्टी मिल जाएगी। मेघ घिर गया। बिजली कौंधने लगी। बूँदें बरसने लगीं। हे भगवान्! थमे नहीं; और जोर पकड़ ले। वर्षा बढ़ चली। चलो जरा साँस लेने की फुसंत मिली। इस प्रकार प्रकृति के प्रति गहरा लगाव उनमें जीवन के प्रारम्भ से परिलक्षित होता है। इसी का विकास आगे चलकर दिखाई देता है।

उनकी कविता को हम प्रकृति प्रेम से मानववाद तक की यात्रा कह सकते हैं। उनकी प्रकृति सम्बन्धी कविता में उस रोमांच की धड़कन है, जो उन्होंने विभिन्न भावास्थाओं में अनुभव किया है। परन्तु उनमें प्रकृति के अद्भुत और सुन्दर पक्ष से जाग्रत भावना का मात्र भावशाली चित्रण ही नहीं है, वे पीछे छिपी किसी सत्ता का प्रश्न उठाती हैं।

आजि ए प्रभाते रविर कर
के मने पॉशिल्ले प्राणेर पर
के मने पॉशिल्ले गुहार आँधारे
प्रभात पाररवीर गान।

ना जानि के नरे एतदिन परे
जागिया उठिल प्राण
ओरे उथिल उठेछे वारि
ओरे प्राणेर वासना प्राणेर आवेग
रुखिया राखिते नारि।

प्रभात संगीत : निझ रेइस्वप्नभंग

आज इस प्रभातकाल में सूर्य की किरणें हृदय के अन्तस्तल तक पहुँच जाने में किस प्रकार समर्थ हुई हैं? पता नहीं ऐसी कौन-सी बात है, जिसके कारण इतने दिनों के बाद मेरे प्राण जाग उठे। जल उच्छ्वासमय हो उठा है। हृदय की वासना, हृदय के आवेग को रोक सकने में मैं समर्थ नहीं हो पाता हूँ।

सुमित्रानन्दन पंत की कविता 'प्रथम रश्मि' में प्रकृति एवं विराट सत्ता के प्रति इसी जिज्ञासा एवं सहज उत्सुकता के दर्शन होते हैं।

प्रथम रश्मि का आना रंगिणि कैसे तूने पहचाना,
कहाँ कहाँ हे बाल विहंगिनि पाया तूने यह गाना।
कूक उठी सहसा तरुवासिनी गा तू स्वागत का गाना,
किसने तुझको अन्तर्यामिनी बतलाया उसका आना।

'मानसी' संग्रह की प्रथम कविता से ही कवि की मर्मवाणी व्यक्त होने लगती है। विश्व जीवन के तरंगघातों को वाणी रूप प्रदान करते हुए कवि कहता है कि इस वरकांत हृदय में जगत की तरंगों का आघात निमेष-निमेष पर बज रहा है। वही हृदय में ध्वनित हो रहा है। मुहूर्त मात्र के लिए विराम नहीं है। इसलिए समस्त रात्रि और दिन निद्राहीन ही रहना होता है। यह चिर जीवन वही है। इसकी और कोई उपयोगिता नहीं है। हम केवल असीम की सीमा का निर्माण करते-करते इसे अतिवाहित करते हैं। उसी को आशा, भाषा और प्रेम प्रदान करते हुए हम केवल एक मानसी प्रतिमा का निर्माण करते रहते हैं।

निभृत ए चित्त माझे निमेषे निमेषे बाजे
जगतेर तरंग आघात
ध्वनित हृदय ताइ मुहूर्त विराग नाइ
निद्राहीन सारा दिन रात।
ए चिर जीवन ताई आर किछू काज नाइ
रचि शुधू असीमेर सीमा
आशा दिए भाषा दिए ताहे भाल वासा दिए
गेड़ तुलि भान-सी-प्रतिमा

मानसी : उपहार

सुमित्रानन्दन पंत का आकुल हृदय फूट-फूट पड़ना चाहता है। अब यह मर्मकथा गोपन नहीं रह सकती। बढ़ती विरह-व्यथा अभिव्यक्ति बिना रह नहीं सकती। इसलिए विवश होकर हृदय से गान फूट पड़ते हैं।

गोपन रह न सकेगी, अब यह मर्म कथा
प्राणों की बढ़ती विरह व्यथा
विवश फूटते गान प्राणों से
बाँध दिए क्यों प्राण-प्राणों से।

'आधुनिक कवि पंत' के प्रथम पृष्ठ से

रवि बाबू भी इसी अनुभूति से वशीभूत होकर कहते हैं कि आज हमारा हृदय सम्पूर्ण वृत्तियों का द्वार उन्मुक्त कर किस प्रकार खुल गया। लगता है आज सारा विश्व उसमें समा गया है

हृदय आज मोर केमने गेल खुलि,
जगत असि सेथा करिछे कोलाकुलि।

प्रकृति के साथ परमसत्ता के तादात्म्य का भाव 'आकाशतले उठलो फूटे' एवं 'आज वसंत जागृत दुआरे' कविताओं में देखा जा सकता है।

आज वसंत के द्वार खुल गए हैं।

तेरे उदास, बुझे जीवन का कोई उपहास न करे

इसलिए तू अपने हृदय की कलियों को खुलने दे,

अपने पराये का भेद भूल जा,

इस संगीत स्वर से गूँजते आकाश में अपनी सुवास की लहरें उठने दे!

आज वन के पत्ते-पत्ते से तीव्र वेदना व्यक्त हो रही है।

व्याकुल वसुंधरा क्षितिज पर किसी की राह में सजल पलकें बिछाए बैठी है।

गीतांजलि : अनुवादक (सत्यकाम विद्यालंकार)

कुहूध्वनि, 'वधू', अपेक्षा, एकाल ओसेकाल ('मानसी' कविता संग्रह) की कविताओं में कवि के साथ प्रकृति की एकांत आत्मीयता का जो परिचय मिलता है, वही आगे चलकर अधिक व्यापक और समृद्ध हो गया है। 'मानसी' की रचनाओं को तीन कोटियों में रखा जा सकता है निसर्ग-सम्बन्धी, प्रेम-सम्बन्धी तथा देश-सम्बन्धी। मनुष्य, पृथ्वी, मानव-जीवन, सौन्दर्य इत्यादि से सम्बन्धित सभी रचनाएँ 'निसर्ग' की सुन्दर उदाहरण हैं। 'दुरंत आशा', 'देशेर उन्नति', 'बंगवीर', 'गुरु गोविन्द' तथा 'धर्मप्रचार' आदि कविताएँ देश-प्रेम की भावनाओं से ओतप्रोत हैं। समाज एवं जाति में व्याप्त मिथ्याडम्बर, कायरता, मानसिक दैन्य, भिक्षा की प्रवृत्ति, मूढ़ निश्चेष्टता इत्यादि के प्रति कवि का विद्रोह इन रचनाओं में व्यक्त हुआ है।

राजनैतिक एवं सामाजिक दृष्टि से उस समय की स्थिति आन्दोलनों से भरी हुई थी। देवेन्द्र नाथ ठाकुर ने ब्राह्मधर्म का प्रचार शुरू कर दिया था। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के कारण स्त्री-शिक्षा एवं विधवा-विवाह आन्दोलन का रूप ले चुका था। नील की खेती को लेकर हंगामा शुरू हो गया था और 'हिन्दू पेट्रिएट' के सम्पादक हरीश मुखर्जी अंग्रेजी राज्य के विरुद्ध प्रतिवाद का स्वर मुखरित करने लगे थे। इसी समय माइकेल मधुसूदन दत्त तथा दीनबन्धु मित्र ने साहित्य को तत्कालीन समाज की पृष्ठभूमि में नई आँखों से देखा और उसे रूप दिया।

राष्ट्रीय नाट्यशाला की स्थापना हुई और व्यंग्यात्मक तथा सामाजिक नाटकों के द्वारा भारतीय मानसिकता में एक आलोड़न फैलने लगा। 'तत्वबोधिनी पत्रिका' ने भारत के प्राचीन ऐश्वर्य तथा आध्यात्मिकता को फिर से उभारा। शिक्षा के मामले में स्वावलम्बी होने, मिशनरियों के षड्यन्त्र का पर्दाफाश करने, स्वधर्म तथा स्वधर्मों की रक्षा, सुरापान की रोकथाम, शारीरिक शक्ति की वृद्धि, राजा-प्रजा के सही सम्बन्धों के निर्णय तथा समाज संस्कार के लिए 'सोम प्रकाश', 'संवाद प्रभाकर' तथा 'तत्वबोधिनी पत्रिका' आदि के प्रकाशन द्वारा एक नई चेतना एवं जागरण का उन्मेष हुआ। बंकिम चन्द्र चट्टोपाध्याय ने अपने उपन्यासों द्वारा राष्ट्रीय और सामाजिक समस्याओं पर प्रकाश डाला। उनसे पहले राजा राममोहन राय ने विभिन्न धर्मों के भेद को मिटाने का प्रयास किया तो स्वामी विवेकानन्द ने शूद्रों के मनुष्यत्व को वेदान्त के ब्रह्म के साथ जोड़कर भेदभाव को मिटाने की दिशा में सक्रिय भूमिका निभाई। कृषक ग्राम संगठन की ओर भी उस समय के नेताओं का ध्यान गया। रवीन्द्रनाथ का साहित्य नवजागरण की प्रवृत्तियों एवं परिणामों से प्रभावित हुआ। जिस प्रकार छायावादी कवि कल्पना के नील गगन से उतरकर देखो 'भू को, जीव प्रसू को, हरित मर्मरित कुंजित भू को' (पंत) का गान करने लगे उसी प्रकार रवि बाबू ने भी मनुष्य को पहचानना प्रारम्भ किया। उसे वर्चस्व मिले, परतन्त्रता की बेड़ी कटे, रक्त शोषण का अन्त होइसकी ओर उनका ध्यान गया। उन्होंने अपनी रचनावली के सूचनांश में कहा है

“मेरे जीवन में उस समय सुख-दुःख के स्वर से युक्त मनुष्य की जीवनधारा का विचित्र कलरव शुरू हो गया था। मनुष्य का परिचय बहुत नजदीक से मेरे मन को छू रहा था। उनके लिए मैंने सोचना शुरू किया, काम करने लगा था, संकल्प करने लगा था। उस संकल्प के सूत्र आज भी मेरे जीवन से विच्छिन्न नहीं हुए हैं आज भी मेरा हृदय मानव हृदय के साथ मिलने के लिए रोता रहता है।”

समाज के सुख-दुःख का चित्र सर्वप्रथम 'चित्रा' में स्पष्ट रूप से अंकित हुआ था। 'एक बार फिराओ भोरे' कविता में समाज में लगी हुई आग के साथ-साथ कवि उस शंखध्वनि का भी उल्लेख करता है, जो लोगों को जगाने के लिए है। अनाथिनी माँ को अन्धकार के जर्जर बन्धन से मुक्त कराने के लिए है। चल रहा है रक्त का

शोषण, झुका हुआ है सिर गुलामों का और अंकित है उसके म्लान मुख पर शताब्दियों की वेदना की कहानी।

आगु न लेगेछे कोथा, कार शंख उठि याछे बाजि
जागाते जगत् जने? कोथा हते ध्वनि छे कंठने
शून्यतल? कोन अंधकारा माझे जर्जर बंधने
अनाथिनी मांगिछे सहाय? स्फीत काय अपमान
अक्षमेर वक्ष हते रक्त शुषि करिते छे पान
लक्ष मुख दियो : वेदनारे करिते छे परिहास स्वार्थेच्छि
अविचार; संकुचित भीत क्रीतदास लकाइछे छद्मवेशे।
ओइ ये दांडार नतशिर मूक सबे-मलान मुखे लेखा
शुधुशत शताब्दीर वेदनार करुण काहिनी।

उनका कहना था कि भाई-भाई के मिलन के द्वारा ही प्रलय की झंझा मिटेगी। साम्प्रदायिकता का विरोध हिन्दू-मुस्लिम भाई-भाई बनकर करेंगे। बजर की आग में सब विरोधिनी शक्तियाँ जलकर राख हो जाएँगी। 'सुप्रभात' कविता में इसकी अभिव्यक्ति हुई है

भालोइ हयेछे झंझार बाये
प्रलयेर जटा पड़े छे छड़ाये
भालोई हये छे प्रभात एसेछे मेघेर सिंह वाहने।
मिलनयरे अग्निज्वालाबे बजरशिखार बाहने॥

डॉ. शम्भूनाथ सिंह स्वीकार करते हैं“1928-30 के आसपास विश्वव्यापी मंदी भारत में फैली। बेकारी, स्वतन्त्रता आन्दोलन की असफलता और यूरोपीय पूँजीवाद की तानाशाही में परिणति देखकर भारतीय मध्यवर्ग का व्यक्ति स्वातन्त्र्य का भ्रम भी टूटने लगा। फलतः छायावादी कवि की विद्रोही भावना भी स्वप्न के शीशमहल से निकलकर यथार्थ जीवन की समस्याओं का सामना करने लगी। इस प्रक्रिया में छायावादी काव्य दो धाराओं में विभक्त हो गयापहली धारा सामाजिकता की थी और दूसरी धारा घोर वैयक्तिकता की।” (हिन्दी साहित्य कोश भाग-1, पृष्ठ 326) उपर्युक्त उदाहरणों से रविबाबू की कविताओं में दोनों धाराओं का समावेश दिखाई पड़ता है। वे युग के इतिहास-निर्माण के लिए रुद्र का आह्वान करते हैं, वे ही तपस्वी हैं, मृत्युंजय हैं, पथ प्रदर्शक हैं, पाप-खण्डन के लिए अस्त्र-शस्त्र हैं। वे ही कविता के अन्तरंग हैं

यारा एसे छे इतिहासेर महायुगे
आलो नये अस्त्र नये, महावाणी नये।
तारा वीर तारा तपस्वी, तारा मृत्युंजय,

तारा आमार अन्तरंग आमार स्ववर्ण, आमार स्वगोत्र,
तारेर नित्य शुचिताय आमि शुचि।

हिन्दी में भी ऐसी कविता है

मृत्युंजय इस घट में अपना काल कूट भर दे तू आज।
ओ प्रलयंकर विश्व भयंकर रुद्र रूप धर ले तू आज।।

सियारामशरण गुप्त

रहस्यवादी प्रवृत्तियाँ :

विस्मित ज्ञाता में ज्ञेय के प्रति सहज जिज्ञासा रहस्यवाद का प्रस्थान बिन्दु है और आत्मा और परमात्मा की परस्पर प्रणयानुभूति उसका केन्द्र बिंदु। प्रकृति, जीवन, जगत, ब्रह्म, अलौकिक सत्ता के प्रति उत्सुकता और सहज जिज्ञासा भी रहस्यवाद की ही प्रवृत्तियाँ हैं। यहाँ मिलन और विरह भावना के स्तर पर चलता है। भावों का मिलन, भावों का विरह। मिलन के उपादान के लिए भी किसी प्रकार की तैयारी की अपेक्षा नहीं है। कबीर की तरह मिलन का समाँ बँध जाता है

नैनों की करि कोठरी, पुतली पलंग बिछाय।

पलकों की चिक डारि कै, पिय को लिया रिझाय।।

कबीर वचनावली : सं. हरिऔध

मिलन-विरह की आलंबन-उद्दीपन प्रकृति ही रहती है। इसलिए कि प्रकृति उसकी सहचरी है, प्रिया है, उससे अभिन्न है

हाँ सखि! आओ बाँह खोलकर, लगकर गले जुड़ालें प्राण,
फिर तुम तम में, मैं प्रियतम में, हो जाऊँ द्रुत अन्तर्धान।

इतना ही नहीं वासंती पवन का एक हल्का सा झोंका आता है और पता नहीं सुधियों का कौन-सा गवाक्ष खोल प्रियतम का सन्देशा दे जाता है। फलतः महादेवी मिलन की तैयारी करने लगती है

जाने किस जीवन की सुधि ले, लहराती आती मधु बयार।

रंजित कर दे यह शिथिल चरण, ले नव अशोक का अरुण राग,

मेरे मंडन को आज मधुर ला, रजनी गंधा का पराग।

यूथी की मीलित कलियों से अलि दे मेरी कँवरी सवार।

लहराती आती मधु बयार।

रवि बाबू का आत्मनिवेदन आराध्य के प्रति समर्पित है 'नैवेद्य' काव्यग्रन्थ में। इसमें सौ रचनाएँ संकलित हैं, जिनमें 78 चतुर्दश पदियाँ हैं। आराध्य के प्रति निवेदन, समर्पण होने के कारण ही इसका नाम 'नैवेद्य' हुआ है। इसमें तुलसी की

विनय पत्रिका की भाँति सरलता, निरीहता एवं समर्पण है

या किछु आनंद आछे दृश्ये गंधे गाने,

तोमार आनंद रबे तार माई खाने।

मोह मोर भक्तिरूपो उठिबे ज्वलिया।

प्रेम आरु भक्ति रूपे रहिबे फलिया।

नैवेद्य-30

'एकला आमि बाहिर होलेम' कविता में कवि अपने अहं का विसर्जन कर उसके दर्शन के लिए अकेला ही बाहर आया था

जाने वह कौन कौन है, जो सुनसान अँधेरे में मेरे साथ चलने लगा?

उससे दूर हटने का मैंने बहुत प्रयत्न किया टेढ़े तिरछे रास्ते पर भी चला,

कई बार ऐसा प्रतीत हुआ कि वह नहीं रहा,

किन्तु फिर उसकी पदध्वनि सुनाई देने लगी

वह पृथ्वी पर धूल उड़ाता जाता है, विलक्षण चंचलता है उसमें

मेरे हर शब्द में वह अपना स्वर मिला देता है;

वह मेरी प्रतिच्छाया तो नहीं प्रभु!

वह तो निपट निर्लज्ज है; उसके साथ तेरे द्वार तक आते मुझे लाज आती है।

प्रियतम! तुम से मिलने को मैं अकेला ही बाहर आया था।

गीतांजलि : अनुवादकसत्यकाम विद्यालंकार

महादेवी को भी पता नहीं 'नक्षत्रों से कौन, निमन्त्रण देता रहता मौन।'।

जिस प्रकार कबीर 'प्रेमगली अति साँकरी तामें दोऊ न समाय' कहकर प्रेम के साथ अहंकार का निषेध करते हैं, उसी प्रकार रवि बाबू प्रियतम से मिलने अकेले ही आए थे। डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी का मानना है "सारा जगत उसी की भौतिक परिणति होने के कारण सत्य है। कबीर आदि सभी सगुण-निर्गुण वैष्णवों की भक्ति का सही स्वरूप है। नवजागरण के चिन्तन में औपनिषदिक वेदान्त का स्वामी रामकृष्ण की छाया में जो व्यावहारिक व्याख्या की गई, वह इसी का युगानुरूप परिष्कार है और पूर्वाचलीय शाक्त शक्ति के अनुरूप भी। इसीलिए महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के कबीर की भक्ति में नवजागरण का स्वर संवाद दिखाई पड़ा उन्होंने उनसे प्रेरणा ग्रहण की।" (प्रसाद साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि, भाषा, जून 89, पृष्ठ 9)। रवि बाबू की मान्यता है कि आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति ही काव्य है और वही रहस्यवाद की मुख्य धारा है, जो निगम आगम में प्रवाहित होती रही है। छायावाद में इस अद्वैत रहस्यवाद की सौन्दर्यमयी अभिव्यंजना होने लगी। इसमें अपरोक्ष अनुभूति, समरसता, तथा प्राकृतिक सौन्दर्य के द्वारा अहम् का इदम् से समन्वय करने का सुन्दर प्रयास है। विरह भी युग की वेदना के अनुकूल मिलन

का साधन बनकर इसमें सम्मिलित है। छायावाद में भावात्मक रहस्यवाद की मुखरता है, तो रवि बाबू में भावात्मक एवं साधनात्मक दोनों की।

बिम्ब, प्रतीक योजना, कल्पना आदि :

छायावाद मूलतः आत्माभिव्यक्ति का काव्य है। इसमें बिम्ब, प्रतीक, कल्पना आदि का अपूर्व विधान है। प्राकृतिक बिम्ब का एक उदाहरण प्रसाद का है

“उधर गरजतीं सिन्धु लहरियाँ कुटिल काल के जालों सी,
चली आ रही फेन उगलती, फेन फैलाए प्यालों सी।”

प्रसाद ग्रन्थावली, प्रथम खण्ड, पृष्ठ 424

सागर के बिम्ब को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए काल, जाल तथा फन फैलाए व्याल इन दो बिम्बों का सहारा लिया गया है। ऐसा लगता है कि कुटिल काल का जाल सर्वग्रासी रूप में बढ़ता आ रहा है। इसी भयंकरता का बिम्ब रवीन्द्रनाथ ने ‘देवतार ग्राम’ कविता में प्रस्तुत किया है—“जल शुद्ध जल/देखें देखें चित्त तार हयेछे विकल। मसृण चिक्कण कुटिल निष्ठुर/लोलुप लेलिहाजिह्व सर्पसमक्रूर/फूँसिछे, गर्जिछे नित्य करिछे कामना/भृत्तिकार शिगशुदेर, लालायित मुख” (संचयिता, पृष्ठ 353) यहाँ सर्प के क्रोध की अभिव्यक्ति फन के फुफकारने की भयंकरता के बिम्ब द्वारा समुद्र के जल की भयंकरता को व्यक्त किया गया है। प्रतीक, कल्पना आदि में भी छायावादी कवियों और रवि बाबू में गहरा साम्य है।

जागरण, उन्नयन, उत्थान :

सर्वोपरि है रवि बाबू की प्रकृति, जीव, जगत के साथ तादात्म्य दृष्टि। एक-एक व्यक्ति का ‘एक-एक तरणी लक्ष लोकेर निर्भर, खण्ड-खण्ड करितारे तरिये सागर।’ (रवीन्द्र रचनावली, भाग-1, पृष्ठ 401) उनका काव्य पलायन का काव्य नहीं है, वैराग्य-साधना का काव्य नहीं है—‘वैराग्य साधने मुक्ति से आमारनय/असंख्य बन्धन माँझे महानंदमय लभिवो मुक्तिर स्वाद’ (नैवेद्य. 30) उन्होंने बन्धन के मध्य मुक्ति की और मृत्यु के बीच अमरता की साधना की है। कवि को विश्वास है कि उसी ने उसका हृदय प्रेम से भर दिया। इसीलिए प्रभात का आकाश गीतमय है। तारिकाओं की माला गूँधी जाती है। फूलों की शय्या बिछती है और दक्षिण पवन धीरे-धीरे कानों में रहस्य की बातें कहता है—“जदि प्रेम दिले ना प्राणे/केन भोरर आकाश भरे दिले/एमन गाने गाने/केन तारार माला गाँथा/केन फूलर शयन पाता/गेन दखिन हवा गोपन कथा/जानाय काने-काने।” (*गीतिमाल्य) स्वच्छन्दतावाद, रहस्यवाद, सर्वात्मवाद की इससे सशक्त अभिव्यक्ति क्या होगी। उनका छायावादी युग एवं छायावाद के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान है।

स्त्रीवाद (Feminism) : साम्प्रतिक बहुआयामी निनाद

पाण्डेय शशिभूषण ‘शीतांशु’*

स्त्रीवाद : बुनियादी चेतना और स्वरूप

स्त्रीवाद और स्त्री-चेतना मध्यकाल से अबतक चली आ रही स्त्री की द्वितीयक स्थिति का प्रतिक्रियात्मक परिणाम है। देरिदा ने अपने विसंरचनावाद में इस द्वितीयकता को हर युग-पद में उलटने की बात की है। डेबोरा एल. मेडसन ने इस द्वितीयकता बनाम हेयता की व्याख्या तीन बीज-पदों के द्वारा की है। वे बीज-पद हैं : 1. लिंग (Gender), 2. अव-स्त्रीपरकता (Misogony) और 3. पितृसत्तात्मकता (Patriarchy)। इन बिन्दुओं को स्पष्ट करते हुए डेबोरा ने लिखा है : “I discuss some of the key terms that recur throughout the discussion, ‘gender’ as opposed to ‘sex’, which refers to the socio-cultural characteristics attributed to the different biological sexes, ‘misogony’, which refers to the systematic practices of women-hating and usually describes the institutionalized subordination of women and all that is designated ‘feminine’. Anti-feminine practices found misogynistic culture include foot-binding genital mutilation, female slavery, female infanticide, concubinage, forced marriage and child marriage.”

Patriarchy is another recurrent term referring to government by men (‘the father’). Father’s patriarchy is a cultural (ideological) system that privileges man and all things masculine, and political system that places power in the hands of men and this serves male interests at the expense of women (Deborah L. Madson, Preface, Feminist Theory and Literary Practices, London : Pluto Press, 2000, page xii).

* डा. पाण्डेय शशिभूषण ‘शीतांशु’, पूर्व प्रोफेसर एवं अध्यक्ष : हिन्दी-विभाग, पूर्व अधिष्ठाता, भाषा-संकाय, पूर्व सदस्य : सीनेट एवं सिंडिकेट, पूर्व प्रधान अन्वेषक : वि.अ. आयोग बृहत् शोध-प्रकल्प 1। पता : 58, लाल एवेन्यू, रेयन एण्ड सिल्क मिल, अमृतसर-143005 (पंजाब)।

स्पष्ट है कि डेबोरा द्वारा निर्दिष्ट 'लिंग' 'यौन' से भिन्न है, उसके विपरीत है। पुरुष की वर्चस्वता इस लिंग-भेद पर आधारित है। *अवस्त्रीपरकता* नारी-घृणा के व्यवस्थित व्यवहार को, नारी के संस्थानीकृत अधीनीकरण को और सभी प्रकार के नारी-विरोधी व्यवहारों को उद्घाटित करने वाली है तथा *पितृसत्तात्मकता* पुरुषों को अधिमानता देने वाली सांस्कृतिक व्यवस्था और पुरुषों के हाथों ताकत सौंपने वाली राजनीतिक व्यवस्था को उजागर करती है, जो स्त्री की कीमत पर पुरुष के हितों की रक्षा करती है। स्त्रीवाद इन सबका विरोध करता है।

हेलेन सिक्सस ने वैसी कृति को स्त्रीवादी 'स्त्री-पाठ' कहा है, जिसमें दमित नारी जाति का शक्तिपूर्ण, अतिक्रामी और आह्लादात्मक प्रत्यागमन निरूपित हो पाता है। *स्त्रीवादी लेखन* (Feminist Writing) स्त्री की जैविक हीनता (Biological) को खारिज करता है। आज पश्चिम में *स्त्रीवाद* का आन्दोलन जोर पर है। वहाँ स्त्री के दृष्टिकोण से साहित्य के लिखे जाने और समझे जाने के विषय में प्रबल आग्रह प्राप्त होता है। *स्त्रीवादी लेखन* किसी भी रूप में नारी को उपसंस्कृति (Sub-Culture) के रूप में देखने का प्रबल विरोध करता है। शोवाल्टर (Showalter) ने जीववैज्ञानिक, भाषिक, मनोविश्लेषणात्मक और सांस्कृतिक जैसे आधारों पर साहित्य में *पुरुष-पाठ* (Male Text) से *स्त्री-पाठ* (Women Text) को अलगाने की वकालत की है, तो वूल्फ (Woolf) ने पुरुष के आधिपत्यपरक और कठोरतामूलक निरूपण से स्त्री के अ-रेखीय और सुनम्य निरूपण का पार्थक्य स्पष्ट किया है। 'स्त्रीवाद' (Feminism) किसी भी पाठ में पुरुष आलोचकों से भिन्न नारी आलोचकों द्वारा ग्रहण की जाने वाली साभिप्रायता को रेखांकित करता है। ऐसी साभिप्रायता पुरुष आलोचकों द्वारा कभी ग्रहण नहीं की जा पाती है, यह *स्त्रीवाद* की मान्यता है। इस दृष्टि से *स्त्रीवाद* लेखिकाओं द्वारा लिखे जाने वाले लेखन और आलोचिकाओं द्वारा की जाने वाली आलोचना का पक्षधर है। बावजूद इन सबके हेलेन सिक्सस का कहना है

"It is impossible to define a feminine practice of writing, and this is an impossibility that will remain, for this practice will never be theorized, enclosed, encoded—which does not mean that it does not exist."

फिर भी साहित्य में 'स्त्रीवाद' और 'स्त्रीवादी लेखन' आलोचना तक का अपना महत्त्व है।

पश्चिमी स्त्रीवाद (Feminism) *संस्कृतिपरक अध्ययन* (Cultural Studies) के अन्तर्गत आता है। पर यह मूलतः *उत्तर-आधुनिकता* के आन्दोलन की एक

उपशाखा है। कहा यह भी जाना चाहिए कि उत्तर-आधुनिकता ने अपने छत्रपद (Umbrella Term) के अन्तर्गत आन्दोलनात्मक रूप में इसके विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। इस दिशा में पिछले दशक में अमेरिकी, स्त्रीवादी लेखिका *लेमिले पेगलिया* (Lamille Paglia) तथा *केटी रोइफ़* (Katie Roiphe) ने अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है। इंग्लैण्ड की *जर्मनी ग्रियर* (Germani Greer) भी इस क्षेत्र की एक महत्त्वपूर्ण लेखिका रही हैं। इन तीनों के द्वारा लिखी गई पुस्तकें क्रमशः *वेम्पस ऐंड ट्रेम्पस* (Wamps and Tramps, 1994), *'द मॉर्निंग आफ्टर : सेक्स, फियर ऐंड फेमिनिज्म, 1993* (The Morning After : Sex, Fear and Feminism, 1993) और *स्लिप-शाड सिबिल्स, 1995* (Slip-Shod Sibyls, 1995) महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें आरम्भ की दो महिला लेखिकाएँ दो भिन्न पीढ़ियों से आती हैं और वे दोनों एक-दूसरे की कृतियों को पसन्द करती हैं और वे दोनों एक-दूसरे को साहसी और ललकारने की ताकत से भरपूर मानती हैं, क्योंकि इन दोनों ने जैसे विचारों पर लेखनी चलाई है, जो प्रायः अप्रिय या अलोकप्रिय रहे हैं।

पेगलिया (Paglia) *इच्छा-स्वतन्त्रवादी भटकाव* में जीने वाली अमेरिकी महिला हैं, जिन्हें अमेरिकी अकादमिक संसार के महाजाल की रानी माना जाता है। एक ऐसी महारानी, जो श्वेत-वर्णी महिलाओं में लिप्त रहती हैं, जो मुक्केबाज हैं और आत्मप्रचारिका भी हैं। *सुश्री पेगलिया* ने जिन मुद्दों को उठाया और उछाला है, वे मुख्य तौर पर पश्चिमी संस्कृति से जुड़े महत्त्वपूर्ण मुद्दे हैं। फिर भी उसके अमेरिकी विचार अधिकाधिक तेजी के साथ यूरोप में आयातित और अर्थायित हुए हैं। *सुश्री पेगलिया* यह अच्छी तरह जानती हैं कि वह कहाँ खड़ी हैं। वह छठे दशक से ही एक महत्त्वपूर्ण *इच्छा-स्वातन्त्र्यवादी* स्त्री रही हैं, जिसने *लिंग-विमर्श* के गिर्द एक *अद्भुत नीत्सियन और लोकप्रिय अराजकतावाद* को विकसित किया है। पर वह सदैव सुसंगत रही हैं और अपने प्रचार की गतिविधियों और अपनी जुझारू योजनाओं की समझ में वह आदि से अन्त तक सुविज्ञ और परिष्कृत दीखती हैं।

वह अपने-आप में एक निर्वैयक्तिक अहंवादी हैं। वह माध्यम भी हैं, सन्देश भी हैं, घटना भी हैं और मिश्रित मीडिया की खबर भी हैं। साथ ही सशक्त छापामार कार्यकर्ता भी हैं, जो जीवन में उत्क्रान्त, कामुक, महापातक, दुर्व्यवहारी और आकस्मिक तौर पर *आक्रमणवादी स्त्रीवाद* पर विश्वास करने वाली हैं। वह पॉप (Pop) कला जैसी धक्के देने वाली साठ से अधिक तकनीकों को व्यवहृत करती हैं और बिना किसी लज्जा और परेशानी के उसे प्रदर्शित भी करती हैं। ऐसा करती हुई वह ऊधमी, मुखर, उच्छृंखल पर उल्लासमयी नजर आती हैं। वह प्रमस्तिष्कीय तकनीकी संसार को, अश्लीलता को एक प्रतिकारक के रूप में प्रस्तुत करती हैं और उसकी सुन्दरता, शक्ति और क्रूरता को परोसती हैं। उसके लिए कहीं भी किसी भी प्रकार की संवेदनशील नारी-प्रतिबद्धता नहीं है। *सुसान सौटैग* (Susan Sontag) के

साथ इस बिन्दु पर उसका वैचारिक संघर्ष प्रसिद्ध है। द्वैतवाद और विरोधिता के सिद्धान्त के प्रति *पेगलिया* की प्रतिबद्धता उसे और कठिन बना देती है। वह अनुभूत विरोधिता के दबाव के अन्तर्गत लिखने वाली लेखिका है। *नीत्से* के यहाँ जो विवेक के नियन्त्रण के *अपोलोनीयन* और *डायोनिशियन* जैसे दो छोर हैं, उसका वह व्यवहार करती है तथा जो *आह्लादपरक वासना* और उसकी *मुक्ति* है, उस संघर्ष का वह स्वाद लेती है। लुभाने के लिए वह विदूषिका शैली, तात्कालिक, आकस्मिक भाषण-शैली और *डायोनिशियन अतिशयोक्ति* अथवा अतिरंजना का सहारा लेती है। कई बार वह *लिंगपूजा* और मूर्तिपूजा बनाम उत्तर-संरचनावाद के प्रति अपना विश्वास घटाती भी नजर आती है। वह एक विदुषी है और इस सन्दर्भ में वह जो दावे करती है वह सच है। वह अपने को अति साधारणीकृत होने नहीं देती है। इसलिए उसके लेखन में भविष्यसूचकता और तर्कसंगतता के बीच कुतूहली और विलक्षण तनाव देखने को मिलता है। उसने लिखा है कि 'एबॉर्शन' या गर्भपात नारी के हाथों में युद्ध देवता *एरिस* के द्वारा *आत्मरक्षा के लिए दी गई दीवार* है। पर वह यह भी स्वीकार करती है और दूसरी प्रचारिकाओं से मतभेद रखती हुई यहाँ तक मानती है कि यह एक प्रकार का *उन्मूलनात्मक अथवा विध्वंसात्मक रूप* है। दोषपूर्ण पत्नियों के विषय में उनकी मान्यता है कि नारियों के चोट लगे चेहरे, उनके भड़कीले प्याले से आहत फोटोग्राफ नारी के लिए 'जोड़े' बनने की जरूरत को टाल देते हैं। उसके अनुसार पुरुषों के साथ कलहों-झगड़ों और मुकाबले में नारी की समान जिम्मेदारी होती है। इसे बिना किसी कानून के प्राप्त किया जा सकता है, बशर्ते नारियाँ अपने-आपकी रक्षा के लिए, अपने अधिकार पर दृढ़ रहने और प्रभाव डालने के लिए तैयार हों। पर वे यह भी याद दिलाना नहीं भूलती हैं कि आर्थिक दृष्टि से अ विकसित देशों की नारियों की गम्भीर समस्याओं के प्रति उन्हें सम्बोधित करने की लगातार जरूरत है, क्योंकि वहाँ नारियाँ अब भी चल सम्पत्ति की तरह मानी जाती हैं या कि आर्थिक दृष्टि से बोझ माने जाने के कारण पतियों या परिवारजनों के द्वारा मार डाली जाती हैं। इस सन्दर्भ में मूलभाव और अतिशय बयानी, विवेक और अतिशयोक्ति के बीच उनके यहाँ प्राप्त होने वाला तनाव प्रायः अस्त-व्यस्त और चकराया हुआ लगता है, पर कभी-कभी वह फलप्रद भी नजर आता है। इसके लिए बहुत दूर जाने की जरूरत नहीं है। उनके द्वारा 'स्त्रीवादी' (Feminist) शब्द का व्यवहार कभी तो इसके *मूल्यवान* स्वरूप को दर्शाता है और कभी इसके *निन्द्य अपशब्दात्मक व्यवहार* को सामने लाता है। *सुश्री पेगलिया* का स्त्रीवाद, *इच्छा-स्वातन्त्र्यवादी स्त्रीवाद* है। पर वहीं फ्रांसीसी विचारकों द्वारा भ्रष्ट किया गया वह *प्रमस्तिष्कीय स्त्रीवाद* भी है, जो दमनपरक, स्वाधिकारपरक, औपचारिक शान्त, गम्भीर और *अवपीड़क स्त्रीवाद* है। *सुश्री पेगलिया* की कठिनाई यह है कि वह इस पद का प्रयोग दोनों दृष्टियों से करती है।

उसका कहना है कि मैं एक *स्त्रीवादी होने के नाते* स्त्री की संख्या के आडम्बरी हास से घृणा करती हूँ। वह श्वेत मध्यवर्गीय स्त्रीवादी संस्था, स्त्रीवादी शिकायती केन्द्र जहाँ शोभाधर्मिता या पुरुष की टकटकी नजर के द्वारा परिणामित अत्याचार और उत्पीड़न के मामलों पर विचार किया जाता है और जहाँ अश्लील चित्रण और लेखन को नियन्त्रित किया जाता है, मैंने किया जाने वाला दुर्व्यवहार *पेगलिया* को नारी-द्वेषी मानने के लिए उद्वेलित करती है यद्यपि वह नारी की मिथकीय सर्जनात्मक शक्ति की पूजा करती है और उस पर बल देती है।

1990 के दशक में एक बार *स्त्रीवाद का विरोध* भी लोकप्रिय रूप में देखने को मिलता है। *Evening Standard* पत्रिका के 10 सितम्बर 1992 के अंक में इस प्रकार के कई आलेख प्रकाशित हुए थे। इसमें एक दूरदर्शन व्यक्तित्व के एस. ऐण्ड एम. में समाविष्ट रहने पर विमर्श भी किया गया था। इसी के कारण उसके कैरियर को क्षति पहुँची थी। यहाँ यह बताया गया था कि जिस व्यक्ति ने एस. ऐण्ड एम. का आश्रय ग्रहण किया था उसे दण्डित नहीं होना चाहिए, बल्कि उसकी जगह उस नारी को दण्डित किया जाना चाहिए, जिसने इसकी देखरेख की थी या इसका संचालन किया था। इसी में *No More Sex War : The Failure of Feminism* नामक पुस्तक की फेवेल्डन, *Fayweldone* द्वारा लिखी समीक्षा भी छपी थी। यहाँ नारी के लिए पुरुष को अपमानित करना सांस्कृतिक रूप में अनुमत नहीं था। न्यूयार्क के एक मनोविज्ञानी ने, जिसने जन्म के बाद बच्चे के यौन व्यवहार का अध्ययन किया है, यह पाया है कि बहुतेरे पुरुष अपनी वैसी पत्नियों के प्रति जिसने बच्चे को जन्म देने में अपनी प्रतिभागिता निभाई है, कम आकर्षित होते हैं।

कैटी रोडफी हार्वर्ड और प्रिंस्टन विश्वविद्यालयों के अमेरिकी परिसर में बलात्कार के मुद्दे को संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के बाहर रूपान्तरित करने में कठिनाई का अनुभव करती है। पर वह इस समस्या को एक बृहत्तर सांस्कृतिक वृत्ति के बतौर देखती है। *पेगलिया* की डायोनिशियन अवज्ञा और तिरस्कार की तुलना में रोलफी, धीरे-धीरे महत्त्व को घटाने में विश्वास करती हैं। *पेगलिया* मुद्दों की शृंखला, दोषीकरण, बालिका-दुर्व्यवहार, बलात्कार, अश्लील-लेखन, चित्रांकन पर विचार करती है। यदि उसके तर्कों को सार-संक्षेप में देखना चाहें, तो *स्त्रीवाद एक संकीर्ण अवपीड़क दकियानूसी शक्ति बन चुका है, जो असहनशील, हठधर्मी मताग्रही और कई बार कट्टर, वैधपरक धर्मान्ध रूढ़िवाद का उपदेश देता है और गृहीत मत (डॉग्मा) के अनुपालन पर बल देता है।* वह लिंग-सम्बन्धों में न केवल पुरुषों के प्रति बुरे विश्वास को रेखांकित करती है, बल्कि स्त्री विधेयात्मकता, स्वत्वहीनता, यौन-उत्पीड़नीकरण की अपरिहार्यता पर बल देती है। अपनी *द मॉर्निंग आफ्टर The Morning After* पुस्तक में वह स्पष्ट करती है कि *स्त्रीवाद* के लिए बलात्कार एक प्राकृतिक तुरूप का पत्ता है अथवा सर्वोत्तम साधन है। उसके तर्क उसके लिए सुपरिचित हैं।

स्त्रीवाद के विभिन्न प्रकार

इसोबेल आर्मस्ट्रॉंग (Isobel Armstrong) ने स्त्रीवाद के वर्गीकरण पर विचार करते हुए विभिन्न स्त्रीवादों का उल्लेख किया है। उसने स्त्रीवाद के तीन प्राचल उपस्थित किए हैं। ये प्रायः एक-दूसरे को परस्पर व्याप्त करते हैं और अपने सह-अस्तित्व को भी उपस्थित करते हैं। *बार्थ* ने जिसे आधुनिकता की सांस्कृतिक चौहद्दी मानते हुए *प्रोक्ति-भाषा* को फिर से रचने की बात की है, उसे उसने डोक्सा, Doxa पद से अभिहित किया है। उसकी सीमाओं पर सोचने और लिखने की जरूरत है। स्त्रीवाद अपने साथ स्त्रीवादी सौन्दर्यशास्त्र की सम्भावनाओं के लेकर भी आया है। यद्यपि स्त्री का लेखन किसी विशिष्ट ऐतिहासिक क्षण में संस्कृति-स्थित विशेष यौनपरकता के साथ उभरता है और प्रायः बिना किसी बदलाव के यह पुरुष के द्वारा प्रभुत्व-प्राप्त संसार को चुनौती देता है, फिर भी उसे स्वीकार करना कठिन लगता है कि मूलभूत तौर पर स्त्री-विमर्श सम्भव है। पर स्त्रीवादियों की दूसरी पंक्ति ने यौन-परकता के उस काव्यशास्त्र को विकसित किया है, जहाँ सौन्दर्यशास्त्र के प्रिज्म के द्वारा यौनपरकता को देखा गया है और जहाँ सौन्दर्यशास्त्रीय भाषा के संसाधनों का व्यवहार यौनपरकता की छानबीन करने के लिए किया गया है। *जूलिया क्रिस्तिवा* का क्लासिकल निबन्ध *वुमन टाइम्स*, 'Women Times' इस बात के लिए स्मरणीय हो उठता है कि कभी वह स्त्रीवाद की विरोधिनी दीखती है और कभी स्त्रीवादी आन्दोलन से अपनी प्रतिभागिता करती है।

आज से लगभग छब्बीस वर्ष पूर्व *जूलिया क्रिस्तिवा* ने स्त्रीवाद का वर्गीकरण किया था। उसके विश्लेषण में उभरकर आए परिवर्तन को तब उत्तर-आधुनिक भविष्य का आदर्श माना गया था। आज उसने आकार लेना आरम्भ कर दिया है, बौद्धिक ढाँचे भी पुनः नक्शे हुए हैं, जिसके मूल में उसी की नकल रही है और प्रभेदों-कोटियों का समुच्चय वाले नए साभिप्रायित स्थल उभर कर सामने आए हैं। अपने 'वुमन टाइम्स' में उसने लिखा है कि बीसवीं सदी में स्त्रीवादी विचार के आनुक्रमिक लहरों ने विधायक तौर पर भिन्न वैचारिक और मानसिक अर्थ को अनुप्राणित-संचालित किया है। दूसरे विश्वयुद्ध के बाद समानता वाला स्त्रीवाद का पश्चिमी सिद्धान्त जिसमें अधिकारों और कार्य-स्थल की समानता के लिए बात की गई थी, मताधिकार के लिए चलाए गए अभियान का तार्किक परिणाम था। तब इसने राष्ट्रीय और सांस्कृतिक सीमाओं की हदें पार कर डाली थीं। उसी समय उन ज्वलन्त प्रश्नों के बीच मिथकीय और संकेत-वैज्ञानिक रूप में इससे स्त्री-यौनपरकता की विशिष्ट स्थिति को और पुरुष-नारी के यौनगत अन्तर को परिभाषित किया गया था। समानता का यह स्त्रीवाद लक्ष्य-निर्दिष्ट एकरेखीय पुरुष-समय के साथ काम करता है, जिसका तार्किक समापन इलेक्ट्रॉनिक माध्यमों *Electronic Media* के द्वारा अनुभव के नियन्त्रण में देखा जा रहा है। यह दूसरा समय मिथकीय और चक्रिक

है। *क्रिस्तिवा* ने इसे स्त्रीवादी समय या कि अत्यन्त महत्वपूर्ण विशाल समय (Monumental Time) माना है, जो प्रच्छन्नतः स्त्री-समय ही है। ओडियल के बलिदान की जरूरतों के लिए स्त्रियों के समायोजन और वधियाकरण के अनिवार्य अवश्यकरणीय और दोनों समयों के प्रतीकात्मक अनुक्रम को उसके प्रवेश को समायोजित करते हैं। मातृ-अनुबन्ध एक क्षतिग्रस्त आत्मरति स्त्री पर लगाता है। यही स्त्री-आतंकवाद में नाट्यकृत हो जाता है। यह रेखीय समय की हिंसा का परिणाम है। दूसरी ओर विशालकाय अनुभव एक स्त्रीपरक अनुभव में वापस लौटता है। उसने यौनपरकता के बुनियादी समझौते की बातचीत की असुविधा का उत्तर देखा और कल्पना-व्यापार के द्वारा प्रतीकात्मक क्रम के अन्तर्गत लिंगगत सम्बन्ध को भी देखा। यहाँ नई लिंगपरक सम्भावनाओं को खोलना प्रभूत तौर पर जटिल था। यह वह सौन्दर्यशास्त्र था, जो विश्लेषण की एकमात्र प्रविधि के बतौर बचाव के लिए उभर रहा था। *क्रिस्तिवा* का वह आलेख अपार और अनन्त है। पर यहाँ विचारणीय विषय स्त्रीवाद के उन प्रकारों का है, जो पिछले 26 वर्षों के लेखन को अपने में समाहित करता है। पर *केरोल वाट्स* (Carol Walts) ने *क्रिस्तिवा* के उस आलेख की प्रखर आलोचना भी की। उसका तर्क है कि माँ के शरीर को कालपरकता के बाहर रख देना उसके प्राथमिक अलगाव को संघटित कर देना है। वह क्षण जबकि बच्चे के लिए समय संसार में प्रवेश करता है, फिर भी माँ को इतनी स्वायत्तता प्रदान करना, उसे समयातीत कर देता है। *क्रिस्तिवा* ने सामाजिक रूप में माँ के सम्बन्ध की सम्भावना को रूपान्तरित कर दिया है। यह केवल इतना भर नहीं है कि *क्रिस्तिवा* मातृ-रति हास के लिंग-केन्द्रित प्रतिमान के प्रति काम करती है। माना यह जाता है कि माँ के शरीर से बच्चे का प्राथमिक अलगाव भी लैंगिक है और यहाँ तक कि *क्रिस्तिवा* का सम्भाव्य उद्धारक क्षण भी इसके द्वारा सीमित हो जाता है।

इसलिए *आर्मस्ट्रॉंग Armstrong* का विचार है कि *क्रिस्तिवा* द्वारा निर्दिष्ट कोटियों को प्राधिकृत रूप में मानने के बजाय उसे उत्तर-आधुनिक मनोविज्ञान के रूप में स्वीकार करना ज्यादा उचित होगा, जो बृहत्तर संघटन को स्वीकार करता है।

स्त्रीवाद के प्रकारिकरण में कुछ निषेध भी किए गए हैं। इस प्रकारिकरण में प्रजातिगत आधार ग्रहण नहीं किया जाना चाहिए जैसे *काला स्त्रीवाद* या *एशियाई स्त्रीवाद*। इसी तरह राष्ट्र-विशेष का भी आधार नहीं बनाया जाना चाहिए। जैसे *फ्रांसीसी* और *अमेरिकी स्त्रीवाद*। इसको ध्यान में रखते हुए तीन प्रकार के स्त्रीवाद माने गए हैं। *अभिव्यंजनात्मक स्त्रीवाद*, 2. *शिश्नपरक स्त्रीवाद* और 3. *लूडिक (Ludic) स्त्रीवाद*।

अभिव्यंजनात्मक स्त्रीवाद : इस शिविर के स्त्रीवाद में क्रोधोन्माद या पीड़ा या आह्लाद या दानवी अट्टहास की उन्मुक्त अभिव्यंजना होती है। यह स्त्रियों का निजी अनुभव है, जिसका उत्सव मनाया जाता है, जिसके गान गाए जाते हैं अथवा जिसे

कामुक तौर पर सम्पुष्ट किया जाता है। यही नहीं, यहाँ आत्म अतिप्रशंसा तक की जाती है और वह गार्ड भी जाती है। अनिवार्यतावाद प्रायः वह उत्तरदायित्व है, जिसके साथ यहाँ जीवन जिया जाता है, पर इसे दरकिनार कर यहाँ 'स्त्री' शब्द को उचारना एकदम सम्भव नहीं है। बिना कुछ निश्चित न्यूनतम अनिवार्यतावाद के जैसा *रोजी ब्रायदोती* (Rosi Braidotti) ने लिखा है, *अभिव्यंजनात्मक लेखन के लिए स्त्री के लिए मूलभूत निजी अनुभव महत्वपूर्ण हैं, क्योंकि स्त्री का अनुभव इतनी दृढ़ता से प्रदत्त है कि इसकी निर्मितपरकता को हम युगपत् रूप में स्वीकार करते हैं।* वास्तव में स्त्रियों का यह अनुभव उन्हें सांस्कृतिक रूप में प्राप्त है और इस अर्थ में *स्त्रीत्व* में ही प्रदत्त है, वह निर्मित नहीं है। इस शिविर की स्त्रियाँ *उग्र और आत्यन्तिक रूप में स्त्रीवादी* हैं। इनमें से अधिक स्त्रियाँ उन सभी विषमताओं और अन्तरों के विरुद्ध हैं और यह मानती हैं कि स्त्री को जो अनुभव युग और विश्व ने दिया है वही अनुभव स्त्रियों को एकीकृत करता है। इसलिए वे जाति और वर्ग के घेरों और ऐसे अवरोधों से परे हो जाती हैं, यद्यपि इसमें उन्हें कुछ कठिनाई होती है। *वस्तुतः एक उद्धारक, सार्वभौमवाद ही वह तत्त्व है, जो उनके क्रोधोन्माद, पीड़ा, आह्लाद और अट्टहास की अन्तःप्रेरणा है।* इस शिविर की *स्त्रीवादी लेखिकाएँ* भविष्योन्मुख होती हैं। वे स्त्री और स्त्री के बीच अन्तर्राष्ट्रीय बन्धन की ओर देखती हैं। वे अपने उस अतीत की ओर भी दृष्टि डालती हैं, जहाँ स्त्री-पाठ की गुप्त परम्परा को उद्घाटित किया जा सके। वे वर्तमान के प्रति केन्द्रित रहती हैं, जहाँ स्त्री-जीवन के अनुभूत अपशब्दों और अनाचारों का पता लगाया जा सके। इनके बीच सक्रिय कार्यकर्ता विज्ञापनकर्ता, अभियानकर्ता, अनाम कार्यकर्ता सदैव विद्यमान हैं, जिनकी सहायता के प्रति वे ऋणी अनुभव करती हैं। यहाँ टूटी हुई प्रताड़ित औरतों के लिए आश्रम हैं और बलात्कार संकट-कालीन केन्द्र भी खोले गए हैं।

हेलेन सिक्सस (Helene Cixous), *एलन श्वाल्टर* और *बेल हुक्स* (Bel Hooks) कभी तीनों के एक-साथ होने की प्रत्याशा नहीं रखती हैं। पर चाहे तीनों एक-दूसरे से जितनी भी भिन्न क्यों न प्रतीत होती हों, *ये सभी अभिव्यंजनात्मक स्त्रीवाद के बुनियादी उग्र सिद्धान्त को साझा करती हैं।* यही बात विशेष तौर पर *स्त्री-अनुभव* को परिभाषय बनाती है और इससे सामान्यता की विचारधारा भी सम्भव होती है। *सिक्सस* के द्वारा *स्त्री-सर्जनात्मकता* की शक्तियों का तीव्र *उत्सवीकरण* वह आवश्यकता है, जहाँ स्त्रियाँ सफेद दूध की स्याही में लिखती हैं, ऋतु-चक्र की लाल स्याही में लिखती हैं, अपने शरीरों को लिखती हैं। स्त्री-शरीर पर गुस्ताखी और बदतमीजी से जो उत्कीर्ण किया जाता है, उनके जीवन और पाठों में जो विद्रोह के साथ लिख दिया जाता है, ये ही वे सब तथ्य हैं, जो उन्हें *सर्वोत्तम अभिव्यंजनात्मक स्त्रीवादी* बना देते हैं। विरोधात्मक युग्म के प्रति उनका क्रोधोन्माद, जैववाद से सैद्धान्तिक रूप में उन्हें छुटकारा देता है और द्वियौनपरकता की सम्भाव्यता से भी

मुक्त कर देता है। यह उन्हें उस नीतिपरक युक्तियों के उद्देश्य की विशेष सुविधा से रोकता भी नहीं है। अतिप्रशंसात्मक अट्टहास का यह एकमार्गीय आन्दोलन स्त्री के बहिर्गमन की व्यवस्था है।

एलन श्वाल्टर अमेरिका में *अभिव्यंजनात्मक स्त्रीवाद* की विदुषी हैं। सिक्सस के विपरीत यह *बेटली* की अतिक्रमणकारी व्यवस्था से उसके काव्यशास्त्र को व्युत्पन्न नहीं करती हैं। उसके सिद्धान्त और आलोचनादोनों में अमेरिकी वाक्विदग्धता और दृढ़ता के दर्शन होते हैं। वह सदैव इस ताकत से लिखती हैं, जो स्त्री-शक्ति के विषय में उसकी समझ को मूर्त रूप देती है। नयी शताब्दी में किए गए नारी-लेखन को *श्वाल्टर* ने प्रायः अकेले ही पुनः प्रत्ययात्मकता प्रदान की है। *उसने स्त्रीवादी प्रयोग के लिए उन्नीसवीं शताब्दी को प्रयोगशाला के रूप में रेखांकित किया है।* साथ ही स्त्रीवादी आलोचना *Gyno Criticism* की महत्वपूर्ण अवधारणा और उसके अनुप्रयोग को प्रवर्तित किया है। उसने जो पाठ लिखे हैं और जो पाठ उसके विषय में लिखे गए हैं, उनके आधार पर कहा जा सकता है कि उसने स्त्री के अनुभव के विषय में निर्बन्ध और निरन्तर छानबीन की है, जिसके कारण वह *अभिव्यंजनात्मक स्त्रीवादी* सिद्ध होती है। उसने स्त्री के उत्पादन को सांस्कृतिक पाठ के बतौर ऐतिहासीकृत करने के लिए हमेशा आवाज बुलन्द की है। साथ ही जिस रूप में स्त्री अपनी संस्कृति के द्वारा संघटित, बिम्बित और नियन्त्रित रूप में अनुक्रिया व्यक्त करती है; उसकी समझ को वह सिद्धान्तीकृत करते हुए बचा लेती है। उसके लिए वहाँ सामान्यता है, क्योंकि स्त्री का अनुभव किन्हीं स्थितियों में किन्हीं विशेष समय में किसी विशेष रूप में संघटित होता है। स्त्रियाँ अपने ऊपर आरोपित नियन्त्रणों की प्रतिक्रिया में परम्पराओं और तन्त्रजालों को स्वतः अपनी ओर से बनाए रखती हैं। स्त्री के इस अवधारणाकरण के बावजूद, जहाँ उसे एक मर्ज या बीमारी के रूप में लिया जाता है, उसकी कृति में स्त्री और उसकी बीमारी का यह अस्वीकार एक प्रधान अन्तर्वस्तु बनकर उभरा है। उन्माद/*हिस्टीरिया* पर किया गया उसका काम *हिस्टीरिक* के रूप में स्त्री की पहचान का विरोध-प्रतिरोध करता है और स्त्री में *हिस्टीरिया* के शक्तिपात को अस्वीकार करता है।

बेल हुक्स (Bel Hooks) वह लेखिका है, जिसने 1980 के आरम्भिक दशक में *श्वेत स्त्रीवादी प्रोक्ति* में प्रजाति को समाविष्ट किया है। उसने अपनी पुस्तक *Am not I a Woman : Black Woman and Feminism* में अपने आत्म-परितोष का विस्फोट किया है। यह भी मूलतः *अभिव्यंजनात्मक शिविर* की स्त्री-चिन्तिका हैं। *श्वेत स्त्रीवाद* के सन्दर्भ में उसमें आत्मरतिपरक अवसरवाद और ध्वजवाही वैयक्तिकतावाद के प्रति विरोध पाया जाता है। यहाँ यह उल्लेखनीय होगा कि *स्त्रीवाद* में जो समतापरक स्त्रीवाद है वह केवल विशेषाधिकार-प्राप्त श्वेत स्त्रियों की बात करता है। *बेल हुक्स* मध्यवर्गीय अनुभव को दमन और उत्पीड़न के रूप में सन्वेदनाकृत या

भावनाकृत करती तर्क देती है और श्वेत गृहिणियों की आत्मकरुणा को यौन-रगनीति के सिद्धान्त में बदल देती है, जो स्वयं दूसरी नारियों को शोषित करती और बहिष्कृत करती हैं। मुख्यतः *काली नारियों* को, जिससे वे अपना लक्ष्य प्राप्त कर सकें। एकता के नाम पर यह उसका मनोभाव है। उसका यह विश्वास है कि स्त्रियों को एक साथ एकजुट होना चाहिए और वे ऐसा तभी कर सकती हैं जब वे अपनी विवेकात्मक मनीषा को स्थगित न करें। यहाँ यह उल्लेखनीय होगा कि *बेल हुक्स* के द्वारा *वर्ग* और *जाति* का किया गया विश्लेषण सुनिश्चित तौर पर *मार्क्सवादी* है। उसके यहाँ सर्जनात्मक क्रोध है। उसकी स्थिति की प्रत्याशा इस बात से की जा सकती है कि वह स्त्री के विभिन्न वर्गों के बीच नहीं उलटे जाने वाले विचारधारागत विभाजन के बारे में निराशावादी हो जाती है। उसने अपनी पुस्तक *Feminist Theory* में अपनी स्थिति स्पष्ट की है। वह स्त्री के द्वारा स्त्री के प्रति घृणा करने की बपौती का विरोध करती है और तर्क देती है कि जहाँ स्त्रियों के बीच विचारधारागत असहमति हो वहाँ भी उन्हें एक साथ होना चाहिए, जिससे कि परस्पर सम्प्रेषण की स्थिति बन सके। उसके अनुसार स्त्रियों को निषेधात्मक असहमति पर काबू पाने के लिए नीतिपूर्ण युक्तियों को विकसित करने की जरूरत है। स्त्रियों को प्रतिकूलताओं के बीच काम करने के उस अनुभव की जरूरत है, जिससे वह सही समझ और एकता तक पहुँच सके। वह लिखती है *यदि उस यौनपरक समाजीकरण से हम अपने-आपको मुक्त करते हैं, तो वह हमें संघर्ष और सामना की अपेक्षा करने को कहता है, क्योंकि वैसा न करने पर हम उत्पीड़ित किए जाएँगे और नष्ट कर दिए जाएँगे। वह यौनात्मक चयन के परे का वर्गीकरण करती है स्त्रीवादी कार्यकर्ताओं को यह याद करने की जरूरत है कि राजनीतिक तौर पर हम जो चयन करते हैं वह उनके जननात्मक यौनपरक सम्पर्क से निर्धारित नहीं होते, जिन्हें हम इस हेतु चुनते हैं। वह दोहराती है कि स्त्रीवाद का उद्देश्य उसकी सामूहिक पहचान है, जो यौनपरकता के इर्द-गिर्द के संरेखण के द्वारा नष्ट हो जाती है।* उसके अनुसार हमारे समाज में स्त्रियों के ऐसे जनाधारित वर्ग से, जो विषमलिंगी-यौनपरक हैं, कभी कोई अपील नहीं करेगा। यह वह ऐसा सोचती है, तो वह कुछ गलत करती हुई देखी जाती हैं अथवा तुच्छ समझी जाती या तिरस्कृत होती हैं। बिना किसी मिथ्या एकता के पारस्परिक क्रिया से उत्पन्न पूर्ण एकात्मकता या पारस्परिक निर्भरता ही उसका प्रादर्श है।

अभिव्यंजक स्त्रीवाद ने सामान्य स्त्री के व्यावहारिक जीवन को बदलने की दिशा में सम्भवतः बहुत-कुछ किया है। पर इसके साथ-साथ किसी और तरह के स्त्रीवादी विचार की अपेक्षा उसने सामान्य स्त्रियों को दूर भी किया है। इसके लिए विचारात्मक आन्दोलनों का क्रिया-निर्दिष्ट रूप कभी-कभी यौनपरक समाज की कुप्रथा के विरुद्ध उग्र और जोरदार मुहिम चलाता है। अश्लील लेखन और चित्रण सम्प्रति इसका बड़ा कारण है। यदि उग्रता के प्रति इसकी घृणा कट्टरता और

मताग्रहता से भरती प्रतीत होती है और यदि *आन्द्रीआ इवोर्किन* (Andrea Dworkin) और *कैथेराइन मैकिन्नोन* (Catharine Mackinnon) जैसी स्त्रियाँ उग्रवादी दीखती हैं, तो कम-से-कम उनके पास अश्लील लेखन और चित्रण की प्रकृति ने, जो इस वर्ग की परिभाषा के गिर्द नाट्यीकृत है, एक कठोर वाद-विवाद को तैयार किया है। वस्तुतः *अभिव्यंजक स्त्रीवाद* बौद्धिक कृति को तैयार करता है। स्त्री जीवन के इस सार्थक काव्यशास्त्र ने जिसे सम्पादित-निष्पादित किया है उस सांस्कृतिक सिंचाई पर कोई भी संशय या सन्देह नहीं कर सकता है। विकास की दूसरी तरंग के किसी भी *स्त्रीवाद* की अपेक्षा इसकी स्पष्टता सामने रही है। *तात्त्विकतावाद* के साथ इसके नृत्य का बराबर उल्लेख किया गया है और सर्वाधिक दोहराव के साथ इसकी की जाने वाली आलोचना भी यही है। फिर भी यहाँ दूसरी समस्याएँ हैं। यहाँ वरिष्ठ *स्त्रीपरक* प्रभाव के Joissance के साथ इसे बहुधा उत्तरदायी ठहराया जाता है, जो पुरुषत्व को पिशाचीकृत करता है, पर यह समयौनपरक सार्थक *स्त्रीवाद* की सत्य स्थिति नहीं है। इस प्रभाव की प्रकृति बड़े अनुपात में अब तक अन्वेषित है और बहुधा निरूपण के परे प्रतीत होती है। इस प्रकार विवेकहीन संवेगों के साथ स्त्रीत्व को साहचर्यित करना ऐतिहासिक दृष्टि से स्त्री को ही श्रेय देना है। इस स्थापना की बड़ी परियोजना प्रभावी जीवन की आगे होने वाली पड़ताल है, उसकी पड़ताल, जिसके निरूपण की प्रकृति और रूप सभ्य नागरिक समाज में आकार ले सकते हैं। निश्चय ही इसका सरोकार शक्ति और अनुभूति के दबावदोनों के साथ है, जिससे कि सार्थक *स्त्रीवाद* जीवित और चित्रित अनुभव को मिटाने के प्रति अभिमुख होता है।

लैंगिक (Phallic) *स्त्रीवाद* अब से कुछ वर्ष पहले तक *स्त्रीवादी सिद्धान्त* का एक प्रधान और प्रभावी प्रकार रहा है। 1990 के दशक के आरम्भ तक यह स्त्रीवादी चिन्तन में केन्द्रीय प्रजनक वाद-विवाद को उत्पन्न करने वाला बना रहा है। पर स्मरण रहे कि यह सदैव सार्थक *स्त्रीवाद* और *बेतुका* (Ludic, हास्यास्पद) *स्त्रीवाद* के साथ अस्तित्वमय बना रहा है। इसने ज्ञान के नए क्षेत्र इस रूप में खोले हैं, जिसने इसे *स्त्रीपरक आन्दोलन* का सैद्धान्तिक उग्र पक्ष बना दिया है। *स्त्रीवाद* का यह प्रकार इसलिए *लैंगिक* कहलाता है, क्योंकि इसका रचनाशास्त्र बीसवीं शताब्दी के दो प्रख्यात और प्रधान विमर्श से व्युत्पन्न होता है। यह वह नया ज्ञान है, जो *मार्क्स* और *फ्रायड* की कृतियों से तैयार और विकसित होता है। बाद में *लेकाँ* (Lacan) के विमर्श से भी। *लैंगिक स्त्रीवाद* चिन्तन के इन रूपों की परम्परा पर काम करता है, उस पर सवाल खड़े करता है, फिर से उसे रूप देता है और उन पर टिप्पणियाँ करता है, जिससे एक नए *लैंगिक सिद्धान्त* की स्थापना हो सके। *स्त्रीवादी चिन्तिकाएँ*, यद्यपि एक-दूसरे की परस्पर प्रतिपक्षी हैं, पर बौद्धिक रूप में वे उसी *लैंगिक स्त्रीवाद* की कोटि से सम्बन्ध रखती हैं। अतः ऐसा नहीं है कि *लैंगिक स्त्रीवाद* में दो भिन्न परम्पराएँ मिल गई हैं। यद्यपि वे कई बार ऐसा प्रतीत करवाती

हैं, फिर भी वे सैद्धान्तिक और विचारधारात्मक जमीन तैयार करती हैं, जिससे स्त्री की दार्शनिक योजनाएँ संरचित होती हैं और जो अपने चिन्तन के आरम्भिक दौर में *मार्क्स* और *फ्रायड* के विमर्श को स्वीकार करती हैं, *मार्क्सवाद* और *फ्रायडवाद* दोनों के भिन्न निर्धारणवाद के विरुद्ध झूलती हुई। यही नहीं, *विचारधारा* और *मनोविश्लेषण-धारा* के विरुद्ध सांस्कृतिक निर्माण की विभिन्न समझों के बीच झूलती हुई और संकेतविज्ञान को इन विमर्शों को निर्वचनात्मक उपकरणों के बतौर लाती हुई ये स्त्री-चिन्तिकाएँ प्रायः ऐसे विश्लेषण को व्याख्यायित करती हैं, जिसने गहराई में कल्पित चिन्तन को चुनौती दी है। यहाँ इस लेखन में स्वतः कविता का बल आ गया है। यह चिन्तन इतना नया है कि यह एक कविता की विचित्रता और सुन्दरता के साथ झिलमिलाता है। अंशतः इसलिए क्योंकि यह तथ्य के प्रति जागरूक है कि यह बीसवीं शती के प्रख्यात सांस्कृतिक मृतकों की विचार-सम्पदा पर विचार कर रहा है। यदि *मार्क्सवादी स्त्रीवाद* का प्रस्थापक निर्धारक-वर्ग की मनोव्यथा है, तो *ओडियल* के त्याग-बलिदान की तीव्र कथा *मनोविश्लेषणवादी स्त्रीवाद* के केन्द्र में है। जितनी बार इसका पुनर्वाचन होता है, इसे दोहराया जाता है, इसे फिर से वर्णित किया जाता है, इसे एक व्याकरणात्मक आकस्मिक ताकत मिलती है, जैसे कि भाषा और चित्रण के द्वारा अनुभव की मध्यस्थता की जाती है। स्त्री की प्रताड़ना उत्पीड़नों की आर्थिक संरचना वह अभाव है, जो यौनपरक भिन्नता को संघटित करता है। यहाँ स्त्री का चित्तिपरक जीवन और प्रतीकात्मक क्रम में उसकी प्रविष्टिलैंगिक चिन्तन की असमाप्य प्रगीतात्मक अन्तर्वस्तुएँ हैं। इन्हें इसलिए प्रगीत कहा जाता है, क्योंकि अभिज्ञान की विशेष प्रकृति इस सिद्धान्त में अपने दाँव पर है कि कैसे यहाँ अस्मिता के सामाजिक स्तरों पर और गहरे चित्तिपरक स्तरों पर 'मैं' उत्पन्न होता है।

जूलिया क्रिस्टिवा, *जूलियट मिशल* और *जैक्यू लाइन रोज* ये सब मनोविश्लेषणात्मक परम्परा के रचनात्मक आलोचक हैं। *जूलियट मिशल* ने अपने पहले की क्लासिक कृति *साइको एनालाइसिस एण्ड फेमिनिज्म Psycho Analysis and Feminism, 1974* को *जैक्यू लाइन रोज* के साथ *लेकाँ* के निबन्धों का प्राक्कथन लिखते हुए उसे और विस्तारित किया है। इस तरह *स्त्रीवाद* के एक नए पहलू का यह केन्द्रीय पाठ बन गया है। यहाँ *फ्रायडियन विश्लेषण* पर दिए जाने वाले बल को *लेकाँ* के द्वारा अन्तरित किया गया है। *जैववाद* से भाषा और उसके निरूपण के प्रति तथा शिश्न-ईर्ष्या के पदों में स्त्री-यौनपरकता के अभिधार्थी वाचन से लैंगिक द्विध्रुवता में अभाव की उस लैंगिक संरचना में अंतरित किया गया है, जहाँ यह कहा जाता है कि स्त्रियाँ अस्तित्व नहीं रखती हैं। अभाव के स्थल पर स्त्री को रखना, पुरुष के आत्म-विस्तारण के स्थल पर जो मौजपरक दूंसग है, वहाँ अभाव की भविता के द्वारा शिश्न को संकेतित किया जानाइन नई अवधारणाओं ने लैंगिक बनावट की उत्पत्ति की समझ का वादा किया है। साथ ही यौन-विभेदकता के द्वारा

संघटित चिर असममित शक्ति-सम्बन्धों की व्याख्या के भी दावे किए हैं। निस्सन्देह यह व्यवस्थापरक प्रतीकात्मक अनुक्रम का यथातथ्य परिशुद्ध सैद्धान्तीकरण था, जिसने कृतसंकल्प रूप में लिंग-सम्बन्धों को संघटित किया। *लेकाँ* के प्रतिमान ने *स्त्रीवादी विचारकों* को आकर्षित किया है। यह प्रतिमान अब तक आकर्षित कर रहा है। *स्त्री-यौनपरकता* की प्रतीयमानता निषेधात्मक समझ की स्वीकृति के द्वारा किंकर्तव्यविमूढ़ के लिए शिश्नवादी *आलोचकों* के उत्तर सामने रखती है, जैसा *मिशल* ने किया। *फ्रायडियन* और *लेकानियन* विचार पितृसत्तापरक समाज के लिए कोई सिफारिश सामने नहीं रखते हैं, बल्कि इसका विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं। इसलिए इस प्रकार का *स्त्रीवाद अब तक सघन रूप में स्त्रीवाद की सर्जनात्मक विधा है। स्त्रीवाद और मनोविश्लेषण* के बीच *टेरेसा ब्रेनन* द्वारा सम्पादित निबन्धों का यह संकलन (1989) अन्दर या बाहर रहने की सम्भावना के बारे में नया विमर्श लेकर उपस्थित हुआ। इससे *लेकानियन स्त्रीवाद* प्रचार और प्रसार में आया। *मैरी जैकाबस* (Mary Jacabus) का पहला निबन्ध 'First things' (1995) जैसे जटिल और सूक्ष्म कृति में संकलित हुआ। *फ्रायड* की स्मृति-विषयक दृश्य स्मृतियाँ और स्त्रीवादी विरहदोनों ही प्रतीकात्मक अनुक्रम से अपने ध्यान को संस्कृति और मनोविश्लेषण में कल्पनात्मक प्रकार्य के प्रति अन्तरित करने का उद्देश्य घोषित करते हैं। *फ्रायड* और दो अन्य व्यक्तित्वों के साथ एक सुकुमार तर्क में वह सुझाती है कि ओडियल समय पीछे की तिथि से *प्री-ओडियल समय* और कर्म को सृजित करता है और दृश्य स्मृति के बतौर यौनपरकता में स्त्री के पतन के लिए परिदृश्य-स्मृति के बतौर कर्म करता है। फिर भी माँ के शरीर के प्रति बिना बीच-बचाव के प्राक्तन सम्बन्ध के मिथक की छानबीन Rich के द्वारा इतनी मार्मिकता और मर्मस्पर्शिता से की गई है, जिसे वह *अतर्कसंगत* मानती हैं। इसकी जगह वह *जेनगेलोक* के द्वारा *लैंगिक अभाव* को विरह के बतौर पुनः सैद्धान्तीकृत करने की ओर झुकती है, जहाँ सशक्त सांस्कृतिक अज्ञात पर विचार करना सम्भव हो सके, क्योंकि यही विरह और स्त्री को जोड़ती है। यहाँ हानि के लिए पश्चात्ताप बार-बार आवर्तित होता है। इस लैंगिक अभाव के प्रति, जिसको सुधारा नहीं जा सकता, प्रयोज्य कभी अभावपूर्ति के लिए लौट नहीं सकता। यहाँ प्रयोज्य को आत्मनिर्वासन या अकेलापन स्मृति-लोक में आता है, जो *लैंगिक अभाव* को भूलने की कोशिश करता है।

लैंगिक समीक्षा पदार्थवादी/भौतिक चिन्तन को समाविष्ट करती है, पर समीक्षा का यह शिविर अपने तिरोभाव में है। फिर भी इसके पुनरुज्जीवित होने के संकेत प्राप्त होते हैं, क्योंकि सोवियत संघ में साम्यवाद के भंग होने से इस अपरिपक्व अनुमान को नेतृत्व मिला है कि पदार्थवादी परियोजना अप्रासंगिक है, यद्यपि *मार्क्सवादी स्त्रीवाद* और इसकी दार्शनिक परियोजना का विश्लेषण वास्तव में अधिक महत्त्व रखता है। *गायत्री चक्रवर्ती स्पिवाक* ऐसे *पदार्थवादी विसंरचनात्मक स्त्रीवाद*

की व्याख्याता रही हैं, जो जटिल तौर पर सिद्धान्तीकृत स्त्रीवाद है। *स्पिवाक संकेतविज्ञान* के द्वारा प्रदत्त पाठात्मक सूझों को प्रस्तुत-प्रभावित करती हैं और वह भी इस रूप में, जो स्त्रीवाद की दूसरी लेखिकाओंइंग्लैण्ड की *मिशल बैट*, फ्रांस की *क्रिस्टिने डेलफीसे* उसे अलगती है। उसने अपने *मनोविश्लेषणपरक लैंगिक समकालिका जूलिया क्रिस्टिवा की आलोचना* बड़े तीखेपन के साथ की है। यद्यपि वे मनोविश्लेषक के विरुद्ध नहीं हैं, पर ऐसा उसने चीन के आदर्शपरक वाचन के लिए किया है। साथ ही स्त्रीपरक अस्तित्व के सिद्धान्त के बतौर मातृ-काया और मातृत्व की वापसी के लिए भी किया है। *स्पिवाक* को सबसे भिन्न रूप में अलगगाया जाता है, क्योंकि उसकी कृतियों में *लिंग* और *जाति* का पदार्थवादी विश्लेषण साथ-साथ चलता है। यहाँ उत्तर-संरचनावादी संसार में पूंजीवाद की ज्ञान-मीमांसात्मक हिंसा की वह समीक्षा भी करती है। *इन अदर वर्ल्ड्स 'In Other Worlds' (1987)* जैसी कृति में वह अपनी कृति की सर्वाधिक प्रभावात्मकता को एकत्र कर देती है। वह एक प्रकार की *अज्ञेयवादी समीक्षा* है, जो सवाल खड़े करने की *विसंरचनात्मक प्रविधि* के द्वारा आगे बढ़ती है। वह बुनियादी अवधारणाओं पर पुनर्विचार करने के लिएजैसे *मूल्य का श्रम-सिद्धान्त* प्रायः प्रयास करती हैं, जिसे वह समकालीन प्रोक्ति से बाहर लिखा गया मानती हैं। ऐसा वह मूल्य के अर्थ-शास्त्रीय और पाठात्मक सिद्धान्तों का प्रत्याख्यान करती हुई करती हैं। उसका यह निरूपण कि वैश्विक पूंजीवाद की उत्तर-आधुनिक अर्थशास्त्रीय प्रोक्ति में श्रम-अपदार्थीकरण, अमूर्तन और प्रयोगमूल्य तीसरे संसार की स्त्रियों के स्वार्थ-साधनात्मक उपयोग पर निर्भर है, अपनी तथ्य परकता में अत्यन्त जटिल है। यहाँ वह स्वार्थसाधन के लिए स्त्री के उपयोग की नग्न यथार्थता को स्पष्ट तौर पर रेखांकित करती है। व्यवहार-मूल्य का भावनाकरण करने अथवा श्रम या मुद्रा का पाठ्यीकरण करने को वह अस्वीकार करती है। वह इन अतिशयताओं के साथ मार्ग पर पैर रखती है, जहाँ *लेहमान* बन्धु संगणक को धन्यवाद देते हैं, पन्द्रह मिनट के काम के लिए बीस लाख डॉलर अर्जित करते हैं। यह सारा अर्थशास्त्रीय पाठ जो है, वह नहीं होगा, अगर यह दूसरे पाठ पर किसी चर्म-फलक की तरह लिखा नहीं जा सका कि श्रीलंका में एक स्त्री को एक टी-शर्ट खरीदने के लिए दो हजार दो-सौ सतासी मिनटों तक काम करना होता है। उत्तर-आधुनिक और पूर्व-आधुनिक युग साथ-साथ उत्कीर्ण हुए हैं। *लैंगिक मार्क्सवाद* की निरन्तर चल रही भावनाओं को वह कला-निपुणता, *Vertuosity* के रूप में निरूपित करती हैं। इन परम्पराओं की संप्राणता का संकेत उत्तर-आधुनिक स्त्रीवादी अर्थशास्त्र के विकास में रुचि रखने वाली रेगेनिया गागेनी, *Regenia Gagnieu* की *आइडिलो ऑफ मार्केट प्लेस*, 'Idyllo of the Market place' में देखा जा सकता है।

प्रश्न है कि क्या उनकी समस्याएँ मार्क्सवाद और मनोविश्लेषण के महावृत्तान्तोंलैंगिक स्त्रीवादी स्वीकृतिके साथ जुड़ी हैं? इन सिद्धान्तों के

अनिवार्यतावादी कृत-संकल्पित पहलू शक्ति की कुछ अपरिहार्य रचनाओं के विश्लेषण का आदेश देते हैं। प्रतीक का अनुक्रम प्रश्न पूछे जाने वाले विषय जो कि पदार्थवादी स्थितियों के अर्थशास्त्रीय दबावों के द्वारा संघटित किए जाते हैं तथा शक्ति के मिथक के साथ काम करते हैं। विश्लेषण से स्वीकृति की दिशा में या वर्णन से स्वीकृति की दिशा में और शक्ति के रूपों की संरचनात्मक आवश्यकता इन सबके गिर्द विचार किया जाता है और उन प्रतिमानों का पूर्व-वर्णन किया जाता है। इस प्रकार *क्रिस्टिवा* प्रतीकात्मक अनुक्रम में ग्रीक भाग्यवाद के साथ स्त्री-प्रविष्टि की कठोर आवश्यकता पर बल देती हैं और *स्पिवाक* उपनिवेशवादी उत्पीड़न के *मार्क्सवादी प्राचल* के द्वारा अपनी प्रोक्ति को इतना व्यवस्थित होने के लिएवह एक *आलंकारिक प्रश्न* भी पूछ बैठती हैंकि *क्या अधीनस्थ या मातहत बोल सकता है?* और स्वयं इसका प्रत्याशित उत्तर देती हैं *नहीं*। सामान्य रूप में कहा जाता है कि *लैंगिक स्त्रीवाद* ने जो-कुछ किया है वह आधुनिक ज्ञान को उत्तर-आधुनिककृत करना रहा है, उनके निर्धारणवाद और शक्ति-सम्बन्धों तथा प्रपीड़नों की आबद्धता को खोलना रहा है। विशेषतः *मनोविश्लेषण* और *पदार्थवाद*दोनों का एक संकेतवैज्ञानिक मोड़ देते हुए उनके तत्त्वमीमांसा-शास्त्र में।

जब निर्धारकीय व्यवस्था में दरार उपस्थित होती है, टूटन-फूटन सामने आती है तब एक सीमित अभिकरण या साधन उभरता है। भले ही वह चितिपरक या सामाजिक अवक्षेप वाली ज्ञान-मीमांसापरक संकटावस्था हो या भाषा की संकटावस्था हो, जिसमें संकेत या जिसे यह निर्दिष्ट करते हैं, दोनों ही वियोजन में हों, जहाँ विषय को ऐसी जगह मुहैया की जाती हो, जो संकेत और अनुभव के बेमेलपन के द्वारा अभिदर्शित-प्रतिपादित विरोधों को जाने-समझे। पर साधन सीमित हैं और वह विचारधारात्मक अन्धता से मुक्ति में ही हो सकता है। *लैंगिक स्त्रीवाद* के मनोविश्लेषणात्मक और मार्क्सवादीदोनों प्राचलों में राजनीतिक प्रवृत्ति नष्ट होने की है, खो जाने की या बन्द कर देने की और निषेधीकरण की है, जो स्वतः राजनीतिक शक्ति के पूरेपन से ही प्रचलित है और लैंगिक मुद्दे भी शक्ति को मिथक के द्वारा निगल लिए जाते हैं अथवा लुप्त-समाप्त हो जाते हैं।

बेतुका अथवा हास्यास्पद स्त्रीवाद संकेत और उसके निर्देश्य पदार्थ के वियोजन के द्वारा सृजित-साभिप्रायित स्थल को दखल करते हैं। *लैंगिक स्त्रीवाद* की अधिमानताओं को उलटने के द्वारा उपक्रमण या पहले शक्ति को जब्त कर लेते हैं। अतिक्रमणपरक पुनः साभिप्रायीकरण, जो नेतृत्वपरक शक्ति को विसंरचित करता है, नातेदारी का इसका वह प्रतिमान है, जो दूसरे घुमावदार मार्ग की अपेक्षा वास्तव में इस संसार और प्रयोज्य के बीच नातेदारी को *लैंगिक स्त्रीवाद* की तुलना में बहुत ही भिन्न रूपों में *वितरित-वर्गीकृत* करता है। साथ ही यह भिन्न रूप में शक्ति को प्रकट करता है।

भाषा और शरीर अनिवार्य लिंग-निर्माण के इतिहास के दो बहुत जरूरी पद हैं, न कि संसार और आत्मा की।

पिछले कुछ वर्षों में यह *हास्यपरक बेतुका स्त्रीवाद* स्त्रीवादी सरोकारों को बड़ी शीघ्रता के साथ अपने अधिकार में रखने लगा है, जैसा कि यह शब्द व्यंजित करता है। यह क्रीड़ापरक है, पर चीजों को सवाल के कठघरे में खड़ा करने की जगह यह उन्हें क्रीड़ा के पास ले जाता है और मुक्त संकेतन-साभिप्रायन का नर्तन बन जाता है। विशेषतः यह क्रीड़ा के विरोधाभास को जो नियन्त्रित करता है/समझता है/आकृष्ट करता है। नियमबद्धता से प्राप्त स्वीकार, विचलन करने लगता है, सम्भाव्य मुक्त क्रीड़ा करने लगता है। इस प्रकार *हास्यपरक अथवा बेतुका स्त्रीवाद* नेतृत्वपरक कानून की *अवपीड़क प्रकृति विशेषतः विषम या विजातीय यौनपरकता की अवपीड़क प्रकृति तथा अतिक्रमण की सम्भावना* फलतः परिवर्तन की सम्भावनादोनों को एक-साथ और एक समय में स्वीकार कर लेता है। ये दोनों परस्पर एक-दूसरे को संघटित करते हैं। यह उस लैंगिक अनुमान को, जो आर्थिक या ओडिपल को संरचित करता है, परित्यक्त कर देता है/खण्डित कर डालता है। यह अनुमान शक्ति-सम्बन्धों की असमता तथा यौनपरक अन्तर की आकस्मिक व्याख्याओं को मुहैया कर सकता है, बजाय इसके कि यह प्रोक्ति के प्रभाव के रूप में उभरे। शक्ति प्रायः असम्बद्ध और असंगत क्षेत्र को परिचारित करती है, लेकिन विसंगत क्षेत्र विघटित हो सकता है। *जूडिथ बटलर* (Judith Butler) के फूकोवादी विचार अब इस *हास्यपरक स्त्रीवाद* के क्षेत्र पर अपना अधिकार बनाए रखते हैं, जो लेस्बियन सिद्धान्त का एक सर्वाधिक उत्पादक क्षेत्र है। यहाँ यह स्मरण कर लेना महत्वपूर्ण है कि ऐसे कितने भिन्न-भिन्न सिद्धान्तविद् हैं, जो यौनपरकता के प्रतिमानों का व्यवहार करते हैं और जो संरचना की दृष्टि से इस हास्यपरक आन्दोलन में एक-जैसे हैं। जिन विचारों में यह साझा रखते हैं उसके मूल में यह समझ विद्यमान है कि प्रोक्ति और शरीर दोनों ही अस्थिर और अस्थायी हैं। दोनों समान रूप में रूपान्तरण में समर्थ हैं। यही कारण है कि *डोना हारवे* (Donna Harway) ने *शरीर और संसार, शरीर और मस्तिष्क के द्वैतवाद को अस्वीकृत कर दिया है। यह हास्यपरक प्राचल की ही मान्यता है।* वास्तव में द्वैतवाद *उत्तर-आधुनिक Cyborg संस्कृति के लेखे-जोखे में विसंरचित होता रहता है, जो शरीर में प्रौद्योगिकी के हमले को अनुमत करता रहता है, न केवल पूर्वागम के रूप में, बल्कि चेतना के तत्त्व के रूप में भी। प्रौद्योगिकी के प्रति लिंग के अधीनस्थ के वैयक्तिक त्रिविध प्रस्तुतीकरण के वैशिष्ट्य के साक्ष्य के बतौर।*

यही कारण है कि *लूसी इरीगेरे* फ्रायड और लेकों के द्वारा प्रभावी रूप में बल दिए जाने वाले *ओडिपल* (Oedipal) के अनुबन्ध-पत्र या सम्विदा के लिए विकल्प या स्थानापन्न के बतौर स्त्री प्रतीकात्मक पद्धति को परिवर्तित करने का प्रयास करती

है। *लूसी इरीगेरे* इस साहस को साझा नहीं करती है, जो लैंगिक नातेदारी में संरचनात्मक विकल्पों पर विचार करती है। यहाँ वह प्रतिमानता *हारवे* (Haravy) के आदर्शवादी विरोध से अलग हो जाती हैं। पर इन दोनों में तीसरी दुनिया की पहचान बने *ट्रिन्ह टी.* (Trinh-T) और *मिन्ह-हा* (Minh-Ha) जैसे सिद्धान्त-विदों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध देखने को मिलता है। तीसरी दुनिया के ये सिद्धान्त-विद् उपनिवेशवादी ज्ञानशास्त्र के क्लासिक प्राचल को फिर से परिभाषित करने की दिशा में सक्रिय देखते हैं। यहाँ आत्म और अन्य पर अधिक मुक्त बहुविदों की आत्मगतता के विचारों के साथ सक्रियता देखती है। इसके जरिए उसकी कृति एक तात्त्विक प्रश्न उठाती है। वस्तुतः यह क्या है, जो किसी एक की पहचान करता है और वगैरे या किसी एक विशेष वर्ग के होने के रूप में पहचाना जाता है। इस तरह यह अधिक प्रत्यक्ष-तौर पर राजनीतिक प्रश्नों को लाभ पहुँचाती है और उससे लाभ उठाती भी है। किसी और *लूडिक पाठ में ऐसा सम्भव नहीं हो पाता। इरीगेरे* पिता के नियम के साथ एक संवाद स्थापित करती है। भले ही वह *मार्क्स* या *फ्रायड* हो, ठीक उसी समय वह इसके दुराग्रह को भी स्वीकार करती है। वह एक नई प्रतीकात्मक व्यवस्था के साथ परिष्कृत मनोविनोद करती है या *स्त्रीवादी Jouissance* की अपनी भाषा होती है। उसने *लूडिथ बटलर* से कहीं भिन्न रूप में इसे कहीं अधिक साहसी और ढीठ के बतौर सोचा, जिसने *स्त्रीवादी चिन्तन* में इसे सिद्धान्तीकृत करते हुए इच्छा-स्वतन्त्रताकामी अवधारणात्मक छलांग लगाई है, आकस्मिक परिवर्तन किया है। उसने *लेस्बियन लैंगिकता* या *लेस्बियन आनन्द* को सैद्धान्तीकृत किया है न कि *स्त्रीवादी आनन्द* को।

स्त्रीवादी सिद्धान्त का इतिहास

- ❖ स्त्रीवादी सिद्धान्त का इतिहास एक दृष्टि से 1968 से आरम्भ होता है, जब *मेरी एलमैन* (Mary Ellmann) की थिंकिंग एबाउट वुमेन, *Thinking About Women* पुस्तक प्रकाशित हुई। एक दूसरी दृष्टि से इसका प्रारम्भ 1949 से माना जा सकता है जब सिमोन द ब्यूई (Simone de Beauvoir) की सेकेण्ड सेक्स *The Second Sex* छप कर आई।
- ❖ *रूथ रोबिन्स* (Rooth Robins) के लिए स्त्रीवादी सिद्धान्त नियम-निर्देशी नहीं है। वह यह नहीं कहती कि क्या कहना, करना, सोचना और पढ़ना चाहिए, बल्कि वह अभिगमों की सम्भावनाओं को व्यक्त करती है कि क्या कहा, किया, सोचा और पढ़ा जा सकता है। अगर कहीं इसमें कोई नियामक सूत्र है, तो वह यह है कि भिन्न-भिन्न तरह से पढ़ने से आह्लाद में राजनीतिकृत (Politicized) होने के सूत्र को कभी नहीं भूलना चाहिए। दूसरे,

स्त्री-जीवन के प्रति, उसके यथार्थ के प्रति उसे अपनी प्रतिबद्धता बनाए रखनी चाहिए।

- ❖ स्त्रीवादी साहित्य-सिद्धान्त का आरम्भ साहित्य-पाठों में निरूपित स्त्री की प्रतिमा या *बिम्बवादी प्रथम-चरण* स्त्री-बिम्बों को देखने से हुआ। परम्परा से साहित्य-पाठ अपनी व्यापकता में पुरुषों के द्वारा रचित थे और उनमें निरूपित स्त्रियाँ सामान्यतः चले आ रहे घिसे-पिटे तौर पर ही निरूपित होती थीं। वे या तो आदर्श होती थीं; अनाघ्रात युवती, सुन्दर, पैसिव, निर्भर और पोषित होने वाली अथवा दानवी होती थीं : यौनतः उदग्र, परम मुक्त, कुरूप, खतरनाक और वेश्यावत Whorish। इन स्त्री-बिम्बों से दो प्रकार के निष्कर्ष प्राप्त होते थे। पहला यह कि पुरुष लेखकों ने स्त्रियों के विषय में अयथार्थ और बुरा लिखा है। दूसरे यह कि पुरुष लेखकों ने स्वयं इन स्त्री-बिम्बों को, स्त्रीत्व के अपने आदर्शों को उनपर लादने के नजरिए से, उन्हें रचा है और पुनः पुनः प्रस्तुत किया है। 'डौरोथिया' (Dorothea) में अतिथि चिशिले (Chicheley) कहता है "I like a woman who lays herself out a little more to please us (than Miss Brooke does). These should be a little filigree about a woman—some thing of the coquette...there should be a little devil in a woman...And I like there blond, with a certain gait, and a swan neck. Between ourselves, the mayor's daughter is more to my taste than Miss Brooke" (M. 89)
- इसकी व्याख्या इस तरह की जा सकती है कि एक स्त्री को पुरुष के अहं को oblige करने वाली होना चाहिए, उसके सौन्दर्य-संवेदन को oblige करने वाली होना चाहिए। एक स्त्री को देवदूती (angel) की तरह दीखना चाहिए, पर अन्तर्धारा में इसे कहीं-न-कहीं दुष्ट, शैतान (devil) भी होना चाहिए, जो सौन्दर्य-संवेदन और कामुकता दोनों को अपील कर पाए।
- ❖ स्त्रीवादी आलोचना का दूसरा चरण वह है जहाँ स्त्रियाँ पाठ की रचना करती हैं, साथ ही उसकी पाठिका (उपभोक्ता) भी बनती हैं। एलेन श्वाल्टर (Elaine Showalter) ने 1979 में इस चरण का आरम्भ किया। उसने 'स्त्री-आलोचना' की बात की, ग्यानोक्रीटिज 'Gynocritics' शब्द का प्रयोग किया, जिसका अर्थ स्त्री के लेखिका होने से है। पर इसका अर्थ यह नहीं लिया जाना चाहिए कि स्त्रीवादी आलोचना का *बिम्बवादी चरण* (Image Criticism) यहाँ समाप्त हो जाता है, क्योंकि स्त्री लेखिकाएँ भी स्त्री के विषय में लिखती हैं। पर यहाँ जो अन्तरण दीख पड़ता है, वह कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। यह एक प्रकार का *इतिहासवादी और पदार्थवादी अभिगम* है, जिसमें स्त्री के लिए लेखन के व्यावहारिक मुद्दों पर विचार किया गया है। यहाँ उनकी शिक्षा पर और

प्रकाशकों के साथ उनकी रॉयल्टी के उचित भुगतान के बावत भी विचार किया गया है।

- ❖ एलेन श्वाल्टर ने स्पष्ट किया है कि ऐसी स्त्री लेखिकाएँ भी रही हैं, जिन्होंने सदैव महान् परम्परा को लिया है। *जॉर्ज एलियट* और *वर्जीनिया वूल्फ* ऐसी ही लेखिकाओं में दो प्रमुख लेखिकाएँ हैं। पर अपनी पुस्तक *ए लिटरेचर ऑफ देयर आन, A Literature of Their Own* में श्वाल्टर ने लिखा है कि मिलिसेन्ट ग्रेगन और वर्जीनिया वूल्फ पर विचारते हुए हम साहित्य के नए इतिहास में इस नई पसन्द को दर्ज कर सकते हैं और यह समझ सकते हैं कि क्यों पूर्वग्रह, अपराध, प्रतिबन्ध (Inhibition) के बावजूद स्त्रियों ने लिखना आरम्भ किया। पर इस चरण की आलोचना भी कुछ कारणों से की गई। रचनाकार के रूप में स्त्रियों पर केन्द्रण, बिम्बालोचन (Image Criticism) के चरण की तरह ही पाठीयता को महत्त्वहीन (gloss over) करने के लिए विवश-बाध्य है। यहाँ भय इस बात का भी है कि इस प्रकार की स्त्रीवादी सक्रियता असंख्य स्त्रियों का समावेश अपने भीतर नहीं कर पाई : ऐसी स्त्रियाँ जिन्होंने कभी पढ़ना-लिखना नहीं सीखा। यही नहीं, स्त्री आत्मनिष्ठता का आंशिक इतिहास भी सुविधा-प्राप्त, विशेषाधिकार-प्राप्त रूप में श्वेत स्त्रियों तथा मध्यवर्ग और उच्चवर्ग की स्त्रियों के द्वारा और उन्हीं के लिए लिखित पाठों का इतिहास रहा। अन्ततः यह भी सुझाया गया कि स्त्री-आलोचिकाओं ने अनिवार्यतावाद का भी खतरा (रिस्क) उठाया। *उनकी यह मान्यता रही कि स्त्री-विषयक प्राधिकृत निरूपण केवल लेखिकाओं द्वारा ही सम्भव है, जो स्वयं स्त्री हैं।* यहाँ 'यौन' (Sex) और 'लिंग' (Gender) को एक रूप कर दिया गया, जबकि 'यौन' *प्राणिवैज्ञानिक है और 'लिंग' सांस्कृतिक गुणात्मकता है।*
- ❖ 1980 से स्त्रीवादी आलोचना-सिद्धान्त का विधिवत् दूसरा चरण आरम्भ होता है। यही वह समय है जब आंग्ल-भाषी अकादमी ने पहली बार *फ्रांसीसी स्त्रीवादी पाठों* का अंग्रेजी में अनुवाद किया। विशेषतः *हेलेन सिक्सस* (Hilene Cixous), *लूसी इरीगरे* (Lucy Irigaray) और *जूलिया क्रिस्टिवा* (Julia Kristeva) की कृतियों का अनुवाद किया गया। ये सभी लेखिकाएँ *लेकानियन मनोविश्लेषण, भाषावैज्ञानिक सिद्धान्तों, भाषा के उत्तर-संरचनावादी चिन्तनों और मानवीय आत्मनिष्ठता से प्रभावित थीं।* ये सब *लेकॉ* के इस विचार से सहमत थीं कि विषय भाषा को नहीं जन्म देता, नहीं बाँचता, बल्कि तथ्य यह है कि *भाषा विषय को बाँचती है* (Language, Infact, Speaks the Subject)। बिना भाषा के तो 'मैं' सर्वनाम का भी उच्चारण नहीं हो सकता और *बिना शब्दों के आत्मअस्तित्व की अवधारणा भी नहीं होती।*

- ❖ इस चरण में जूलिया क्रिस्टिवा ने सेमिओटिक Semiotic शब्द को एक नई अर्थवत्ता दी : भाषा का विच्छेद, मौन, (elisions), अध्याहार, लय और ध्वनियों। अनुरूपतः Semiotic को स्त्रीवादिता के स्थान (space) के रूप में रेखांकित किया। जहाँ स्त्री-आलोचिकाओं ने साहित्य और यथार्थ के बीच अनुकरणात्मक सम्बन्ध पर बल दिया था, वहाँ फ्रांसीसी स्त्रीवादियों ने प्रयोगात्मक लेखन के बारे में सोचने के लिए युक्ति-उपकरण (tools) मुहैया किए। लेखक या पात्र के लिंग (gender) चाहे जो भी निरूपित किए गए हों। इस 'एप्रोच' पर आंग्लभाषी देशों में आरोप और विरोध का माहौल रहा। विशेषतः ब्रिटेन में, जहाँ स्त्रीवादी सिद्धान्त का जोरदार प्रतिरोध किया गया। वे परिवर्तन की नीति के हिमायती नहीं थे।
- ❖ एलेन श्वाल्टर ने अपने द्वारा किए गए पागलपन के अध्ययन के द्वारा मनोविज्ञान, मनोचिकित्सा और दवा की राजनीति को अधिकाधिक परम्पारित स्त्रीपाठीय प्रतिमानों में वर्णित किया।

स्त्रीवादी साहित्य-सिद्धान्त

- ❖ स्त्रीवादी साहित्य-सिद्धान्त कोई ऐसा एकीकृत साहित्य-सिद्धान्त नहीं है, जिसका कोई एक कॉर्पस (Corpus) हो। यहाँ किसी स्त्रीवादी मार्क्स या स्त्रीवादी फ्रायड की भी उपस्थिति नहीं है, जो स्त्रीवाद को एक सिद्धान्त या प्रविधि के रूप में परिभाषित कर सके। यह तथ्य यदि एक ओर स्त्रीवाद की शक्ति है, तो दूसरी ओर एक निराशाजनक स्थिति भी है। कहा जा सकता है कि यह इसकी नीति भी है, क्योंकि स्त्रीवाद स्वतः किसी 'प्राधिकृत' (authorised) बयान का निषेधक है।
 - ❖ स्त्रीवादी साहित्य-सिद्धान्त को वाचन-प्रक्रिया के दौरान हस्तक्षेप (intervention) की जारी श्रृंखला के बतौर तथा वाचन-नीति को उकसाने वाले हस्तक्षेप के बतौर समझा जा सकता है। वह यह मानकर चलता है कि वाचन का अभ्यास संसार-विषयक हमारे अनुभवों के बीच के अन्तर को दर्शा सकता है।
 - ❖ इसकी तीन प्रतिज्ञप्तियाँ (propositions) हैं
 1. शब्द और संसारदोनों परस्पर सम्बन्धित हैं।
 2. शब्द और संसार परस्पर राजनीतिक तौर पर सम्बन्धित हैं।
 3. स्त्रीवादी सिद्धान्त शब्दों की राजनीति और संसार की राजनीति के सन्दर्भ में स्त्री को केन्द्र में, नाभिकेन्द्र में रखता है।
1. शब्द और संसार दोनों परस्पर सम्बन्धित हैं इसके अन्तर्गत स्त्रीवादी साहित्य-सिद्धान्त की यह मान्यता है कि शब्द और संसार के बीच, पाठ और यथार्थ के बीच सम्बन्ध होता है। इसी से साहित्य जन्म लेता और

पढ़ा जाता है। पर यह सम्बन्ध कभी भी पारदर्शी नहीं होता। इससे यह अर्थ नहीं लिया जाना चाहिए कि यह है ही नहीं। इसकी यह भी मान्यता है कि साहित्य कोई ऐसा लोकोत्तर (transcendent) स्थल नहीं है, जिसमें रोजमर्रे की जिन्दगी की विविधताएँ अनुपस्थित हैं। साहित्य तो यथार्थ का भाग है। यह 'यथार्थ' (Real) को सृजित करता है, भले ही दर्पण विरूपात्मक या खराब हो। यह 'यथार्थ' को सृजित करता है और अपनी कल्पनात्मक दुनिया में हमें विश्वास कराने के लिए ले चलता है। वह यह भी बताता है कि हम इसके प्रति अपने विशिष्ट रूप में व्यवहार कर सकते हैं। यही नहीं, वह 'यथार्थ' का विकल्प भी प्रस्तावित करता है। वह हमारे द्वारा लिए जा रहे यथार्थ को समीक्षा के द्वारा प्रस्तुत करता है। साथ ही भविता की विकल्पात्मक प्रविधियोंफेंटेसी, यूटोपिया, डिस्टोपिया, विज्ञान-कथाआदि के द्वारा भी इसे रूपायित करता है।

- स्त्रीवादी सिद्धान्त यह तर्क देता है कि पाठ (text) हमेशा किसी विशिष्ट यथार्थ का उत्पादन होता है और वह अपने काल, स्थल और उत्पादन-प्रविधि की पहचान का संवहन करता है। पाठ सदैव अपनी ऐतिहासिक और भौगोलिक विशिष्टताओं में समझा जाता है। ये दोनों ही विशिष्टताएँ उस क्षण-विशेष से सम्बन्धित होती हैं जब पाठ पहली बार रचा जाता है। इस प्रकार ये मान्यताएँ स्त्रीवादी साहित्य-सिद्धान्त को कहीं-न-कहीं मार्क्सवादी-पदार्थवादी और ऐतिहासिक अभिगम से जोड़ देती हैं।
 - शब्द और संसारदोनों के सहसम्बन्धन को स्पष्ट करने के लिए परस्पर जार्ज इलियट, George Eleot के मिडल मार्च, Middle March और वर्जिनिया वुल्फ Virginia Wolf के मिसेज डैलो, Mrs. Dallow कृतियों की तुलना की जाती है। इनमें महिला-वैयक्तिकता/ आत्मनिष्ठता (female subjectivity) का अन्तर उजागर होता है।
- बीसवीं शताब्दी की नायिका Clarisa-alias—Mrs. Dalloway का यह नाम उसके पति के नाम पर आधारित है या पति से जुड़कर उसकी पहचान कराने वाला है। इसके विपरीत Dorothea—Dorothea Brooke स्त्री की अपनी पहचान का नाम है। यह नाम पति पर आधारित नहीं है। वह पति और समाज की आशा-प्रत्याशा को विफलीकृत करता है I ask you to obey mine : you refuse/You would use your own judgement. There was nothing for her to do in lowick.

2. शब्द और संसार परस्पर राजनीतिक तौर पर सम्बन्धित हैं। 'राजनीतिक' से मन्तव्य 'शक्ति-क्षमता' (power) से है। इस रूप में यदि पाठ या शब्द संसार से सम्बन्धित होता है, तो वह संसार को परिवर्तित भी कर सकता है। स्त्रीवादी साहित्य-सिद्धान्त के हर केन्द्र में राजनीतिक प्रकृतत्व की प्रबल इच्छा (will) है। यहाँ भी पुनः मार्क्सवाद के साहित्य-अभिगम से इसका सम्बन्ध स्पष्ट होता है।
3. स्त्रीवादी सिद्धान्त शब्दों की राजनीति और संसार की राजनीति के सन्दर्भ में स्त्री को नाभिकेन्द्र में रखता है। यह तीसरी प्रतिज्ञा प्रतिज्ञा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। सभी स्त्रीवादी सिद्धान्त स्त्री को नाभिकेन्द्र में रखते हैं। यहाँ नारी विविध क्षेत्रीय हो सकती है। विभिन्न व्यक्तिपरक जीवन, विभिन्न शिविर या दल की हो सकती है, पर प्रमुख impity वही रहेगी। इस सिद्धान्त की यह मान्यता है कि स्त्रियाँ दूसरी संरचनाओं से रूपायित होती हैं। ये संरचनाएँ आर्थिक, मनोवैज्ञानिक हैं, जो स्त्री को दमित करती हैं। वह भी लिंगगत सामाजिक एवं चित्तिपरक (psychic) असमानता के कारण इन संरचनाओं में स्त्रीवादी सिद्धान्त स्त्री के प्रति सामाजिक अन्याय (deprivations) से अपने-आपको जोड़ता है, वह स्त्री की शिक्षा की अधोगति, अल्पगति तथा उसके श्रम की अल्प अदायगी से अपने-आपको जोड़ता है। स्त्री-शरीर के कारण उस पर होने वाले और किए जाने वाले शारीरिक अत्याचार से अपने-आपको जोड़ता है। यही नहीं, स्त्री का जो सांस्कृतिक दमन होता है, जिसमें स्त्री एक सांस्कृतिक पदार्थ के रूप में अवमूल्यित होती है, बजाय इसके कि उसे सही रूप में मूल्य प्रदान किया जाए और वह स्वयं अपने-आपको सांस्कृतिक व्यक्ति के बतौर सही रूप में मूल्यित कर सके यह प्रतिज्ञा उससे भी जुड़ती है। स्त्री पर एक और दमनचक्र मनोवैज्ञानिक रूप में चलता है। यहाँ स्त्री को पुरुष के बराबर दर्जा नहीं दिया जाता है और उसे पुरुष से निम्न, अवरकोटिक समझा जाता है, क्योंकि उसे पुरुष का शरीर और मस्तिष्क प्राप्त नहीं है। इस दमनपरक ग्रन्थि का नाम पितृसत्तात्मकता (patriarchy) है। यह परिवार में पिता की शासन-व्यवस्था है। स्त्रीवादी सिद्धान्त इस पितृसत्तात्मकता को घर-परिवार में, समाज में, राज्य में, धर्म के अधिष्ठानों गिरजा, मन्दिर, मस्जिद, गुरुद्वारों में, कानून में, शिक्षा में, काम करने की जगहों में सर्वत्र सक्रिय देखता है। यही नहीं, इससे स्वयं भी बुरी तरह वशीभूत और प्रभावित होता है, क्योंकि सशक्त बाहरी संस्थाओं के प्रभाव से वे इसी मूल्य को प्राप्त कर लेता है। स्त्रीवादी चिन्तन या चेतना ऐसी संरचनागत असमानताओं को उद्घाटित करने, चुनौती देने और उन्हें परिवर्तित करने के लिए संकल्पित है।

स्त्रीवाद और हिन्दी कथा-लेखन

आज यह स्त्री-चेतना कहाँ जा रही है? यह स्त्रीवाद के एक प्रकार शिश्नपरक स्त्रीवाद में सीमित होकर रह गई है। हिन्दी कथा-साहित्य में स्त्री-चेतना से सम्पन्न कथा-लेखिकाओं के स्वच्छन्द और अनैतिक भोग-विषयक यौन-सम्बन्धों की एक झाँकी लें। क्या यही स्त्री-चेतना है? इसके कुछ उदाहरण मैं श्री राजेन्द्र सिंह गहलौत द्वारा लिखित 'वर्तमान साहित्यिक स्त्री-विमर्श' आलेख (अक्षरा, मई-जून, 2007) से चुनकर दे रहा हूँ :

- “यह पेट पर नोचियो से हमला करता है और हाथ सरकाता हुआ आगे बढ़ता है। सीना ऐसे दबाता है कि किसी ढोर ने चबा डाला हो। मगर झाइवर मामूली आदमी नहीं, गेयर बदलने में माहिर, स्पीड बढ़ाने-घटाने का मास्टर। मूँछों में मुस्काता आया। नमस्ते किया और आगे बढ़ गया। कुछ क्षण बाद पलटकर बाँह पकड़ ली मैत्रेयी की। बस में बैठी हुई चार सवारियों से बोलाये हमारी साली साहिबा है। आधी घरवाली। पास नहीं बैठने देती। कहते हुए सटकर बैठ गया और वही पेट पर चिकोटी भर ली।”

(मैत्रेयी पुष्पा, कस्तूरी कुण्डल बसै, पृष्ठ 125, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली)

मैत्रेयी का ही दूसरा उदाहरण देखें

- “विष वमन होने लगा जबकि पत्नी अपनी स्त्री-व्यावहारिकता पर इतरा रही थी। खुद डॉड़ चलाकर नाव खेना और पार उतरना उसके लिए यहाँ उपलब्धि के तौर पर आया, क्योंकि डॉक्टर को अपनी कलाएँ दिखा दीं।” (वही, पृष्ठ 250) यह विपरीत रति की कामशास्त्रीय झाँकी है उसने गुस्से के मारे पति को झकझोर डाला... “ए, सीधे लेटो और मेरी ओर मुँह करो। पहले यह बताओ कि, ब्याह क्यों किया? हमने पार लगा दिया तो नखरे पसारने लगे? समझे रहना कि मुझे नखरे-वखरे अच्छे नहीं लगते।” (पृष्ठ 251)

रमणिका गुप्ता का एक आत्मस्वीकार देखें

- “मुझे एक बड़े नामी वकील साहब से बहुत घनिष्ठता थी...मुझे बहुत चाहते थे मेरी देख-रेख भी करते थे... मैं चाहती थी कि उनसे मुझे एक बच्चा हो...पेट में बच्चा रह गया तो मैं परीक्षा के बाद अपने पति के घर लौट गई थी। मेरे पति को सन्देह हो गया था कि पेट का बच्चा उनका नहीं है...उनकी भाभी जिससे उनका बचपन से सम्बन्ध था और जिसे मेरे पति से एक बच्ची भी पैदा हुई, आकर सन्देह को और पुख्ता कर जाती।”

“एक दिन वे आए अपने साथ एक मित्र को लेकर मुझे उनका सम्पर्क कराया। मुझे लगा वह मुझे पास आन कर रहे हैं।”

(रमणिका गुप्ता, ‘हंस’ जनवरी 2002 एवं फरवरी 2002 में प्रकाशित आत्मकथ्य, पृष्ठ 35, 36)

“जंगल में जाकर नंगे कभी अधनंगे होकर शिकार की खोज में चल देते। मैं उसे “आदम” कहती वह मुझे “ईव”।

“मेरे साथ रातों भी बिताई वे मेरी ही रातों थीं। उसने अपनी पत्नी की रातों को कभी बेचैन नहीं होने दिया।”

“उसी ने मुझे रात का सही प्रयोग सिखाया। वैसे युवावस्था में बहुत पहले ‘आ’ ने मुझे ऐसा ही सुख दिया था। सहवास का सही और सच मतलब इन्हीं दोनों ने सिखाया था।”

(‘हंस’ जनवरी, 2002, पृष्ठ 33 एवं 35 ‘तुम्हारी और मेरी मुक्ति’)

स्त्री-चेतना का प्रश्न है

“शुद्ध दैहिक व्यापार के लिए क्या प्यार की रसीद कटाना जरूरी है?”

“मैंने जीवन में अनेक पुरुष देखे हैं एक तुम भी सही।”

स्त्री-चेतना-सम्पन्न स्त्री प्रसन्न होती है कि उसने एक पुरुष को भोगा है—मेरा मन रुई सा हल्का था...मैंने एक पुरुष को, जो मेरा पति नहीं है, भोगा था...”

(कालिंदी सिंह, एक अपनी जगह, ‘हंस’, जुलाई, 2001, पृष्ठ 32)

एक दूसरा उदाहरण देखें

“छोड़ो-छोड़ो...क्या करती हो? मेरी बेटी के समान हो।”

“बेटी हूँ, प्रिया भी हूँ, मित्र भी हूँ, प्यार में उम्र का कोई बन्धन नहीं होता।”

“मुझे आप पसन्द हो, पाप-पुण्य छोड़िए हमें अपनी दबी ख्वाहिशों को पूरा करने में कोई अपराध-बोध नहीं होना चाहिए। जवान को चुनो उसके इशारे पर नाचो...गर्भ ठहरने का खतरा अलग मँडराए...यहाँ शान्ति से बिना किसी टेंशन के आनन्द मिलता है, किसी को शक भी नहीं...”

(‘अपने-अपने कुरुक्षेत्र’, हंस, मार्च, 2000, पृष्ठ 26)

नैतिकता को कैसा धक्का देती है यह स्त्री-चेतना

● “देह किसी ब्राह्मण की रसोई नहीं है, जूठी हो जाएगी। इनमें नैतिकता का थर्मामीटर मत लगाइए।”

“नैतिकता का जो पाठ स्त्री को बचपन से पढ़ाया गया है उसकी वजह से मैं जीवनभर पुरुषों के साथ प्रेम नहीं कर पाई, पुरुषों के साथ ढंग से

सो नहीं पाई। हो सकता था कि चार पुरुषों के साथ प्यार करती या सोती तो शायद मैं सेक्स का असली सुख जान पाती।”

(गीताश्री, स्त्री ही स्त्री पर पहरा बैठाती है ‘हंस’ सितम्बर, 2005, पृष्ठ 72-73)

एक-दो और अभिव्यक्तियाँ देखें

● “चोली के पीछे क्या है की तर्ज पर बजने लग गया” “धीरे से डारो सैंया धीरे से डारो। नाजुक उमरिया हमारी धीरे से डारो।”

(लवलीन, सुरंग पार की रोशनी ‘हंस’, अक्टूबर, 1998, पृष्ठ 73)

एक और संवाद को लीजिए

● “बच्चे एक जैविक आवश्यकता हैं सुनीता”

“बच्चे नहीं सेक्स...”

“और सेक्स की कोई कमी नहीं है...”

पर जिस दिन अपनी कोख से बच्चा जनना चाहूँगी कोई बाधा नहीं है। तुम्हारे बुद्धिमान नौजवान तुरन्त सहयोग देने के लिए आतुर हो उठेंगे”

(लता शर्मा, खुल जा सिम-सिम, ‘हंस’, जून, 1999, पृष्ठ 25)

कहाँ है स्त्री-चेतना का अर्थ-स्वातन्त्र्य, कहाँ है स्वाभिमान और स्वावलम्बन? कहाँ है अभिव्यंजनापरक स्त्रीवाद वाली स्त्री-चेतना? इसलिए मुझे लगता है कि पश्चिमी स्त्री-चेतना से परे भारतीय स्त्री-चेतना की पड़ताल और पहचान अपेक्षित है। इस पर विशेष रूप में स्त्रियों को ही विचारने की अपेक्षा है।

स्त्रीवाद तथाकथित रूप में एक आदर्शवादी स्थिति है। पर स्त्रीवाद सदैव इस ज्ञानात्मक तथ्य के सम्पर्क में रहता है कि ‘यथार्थ’ ‘आदर्श’ नहीं है कि इसे बदलना चाहिए और इसे बदला जा सकता है, यदि हम आवश्यक क्रान्ति को सक्रिय बनाएँ। आज स्त्री-चेतना के लिए इसकी अपेक्षा है। पर आज की स्त्रीवादी चेतना को विधेयात्मक सकारात्मक दिशा देने के लिए हमें उस भारतीय स्त्री-चेतना (इस्लाम और ईसाइयत के आने के पूर्व) की ओर भी उन्मुख होना होगा, जहाँ स्त्री को ही मूल शक्ति माना गया है, जिससे आज बिना भारतीय मूल्यवत्ता से कटे उसे उसका पूरा स्वत्व प्राप्त हो सके, वह पश्चिमी यौनपरक उच्छृंखलता और उसकी उपभोगात्मकता से अपने को बचा सके।

राष्ट्रस्यचक्षु इतिहासमेतत्

गुंजन अग्रवाल*

इतिहास क्या है? इतिहास-शिक्षण का उद्देश्य क्या है? इतिहास के प्रति दृष्टिकोण क्या होना चाहिए? प्राचीन भारत में इतिहास-लेखन की परम्परा क्या थी? भारतीय इतिहास का पुनर्लेखन क्यों? ये कुछ ऐसे प्रश्न हैं, जो भारतीय समाज में न केवल बुद्धिजीवियों को परेशान कर रहे हैं, बल्कि देश के राजनीतिज्ञ भी इससे भयभीत हैं; और देश का सामान्य व्यक्ति भी कौतूहलपूर्वक इतिहास में चल रही रस्साकशी को देख रहा है।

हमारी मान्यता है कि इतिहास किसी भी राष्ट्र का प्राण है। राष्ट्र-आत्मा का ज्ञान और राष्ट्र-शरीर का कर्म उसी पर निर्भर है। वह सभ्यता का आधार एवं संस्कृति का प्रधान अंग है। भविष्य के निर्माण में इतिहास का सहयोग अनिवार्य रूप से रहा करता है। इसलिए यदि इतिहास की उपेक्षा की गई तो राष्ट्र का पतन अवश्यंभावी होता है। अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त इतिहासविद् डॉ. हरवंशलाल ओबराय (1925-1983) कहा करते थे कि “इतिहास एक राष्ट्र के उत्थान-पतन की तथ्यपूर्ण गाथा है। ‘राष्ट्रस्यचक्षु इतिहासमेतत्’ अर्थात् इतिहास राष्ट्र का चक्षु है, जिसके द्वारा राष्ट्र अपने अतीत को पहचानकर वर्तमान में कर्म के लिए प्रेरणा प्राप्त करता है तथा श्रेष्ठतर भविष्यत् के निर्माण के लिए साधना करता है।”¹

जब तक कोई राष्ट्र अपने इतिहास का चिन्तन करता रहता है, उससे प्रेरणा ग्रहण करता रहता है, तब तक उसकी प्रगति में बाधा नहीं आती। किन्तु ज्योंही कोई राष्ट्र अपने इतिहास को भुला बैठता है, त्योंही वह अपनी राष्ट्रीयता के आधार-स्तम्भ को ही खो देता है। संसार के सभी सभ्य राष्ट्र इस तथ्य को भली भाँति समझते हैं और अपने इतिहास के सहारे प्रगति करते हुए अपने आचरण के द्वारा अपने इतिहास-प्रेम को प्रदर्शित करते हैं।

* प्रधान सम्पादक, ‘पटना परिक्रमा’ (पटना बिजनेस डायरेक्टरी); पूर्व उपसम्पादक, ‘सनातन भारत’ (हिन्दी मासिक, पटना); सम्पर्क : साहित्य भारती प्रकाशन, गोपी-कृष्ण पैलेस, भिखना पहाड़ी, पटना-800 004 (बिहार) मो. : 09334518851

इतिहास की भारतीय संकल्पना

इतिहास केवल शब्द-मात्र नहीं है। वह अपने भीतर एक गूढ़ अर्थ धारण किए हुए है। महाभारत युद्ध (3139-3138 ई.पू.) से लगभग दो सौ वर्ष पश्चात् आचार्य शौनक लिखते हैं :

‘इतिहासः पुरावृत्त ऋषिभिः परिकीर्त्यते।’²

अर्थात्, इस विषय का इतिहास अथवा पुरावृत्त ऋषियों द्वारा कीर्तित है।

यास्काचार्य अपने निरुक्त ग्रन्थ में ‘इतिहास’ शब्द पर लिखते हैं :

‘इति हैवमासीदिति यः कथ्यते स इतिहासः।’³

अर्थात्, यह निश्चय से इस प्रकार हुआ था; यह जो कहा गया है, वह इतिहास है।

इस प्रकार इतिहास शब्द इति + ह + आस से मिलकर बना है, जिसका अर्थ हैइस प्रकार हुआ था, ठीक ऐसा ही हुआ था। अर्थात् अतीत की घटनाओं की ठीक उसी प्रकार व्याख्या करना जिस प्रकार वे घटित हुई थींसच्चा इतिहास-वाचन है। कल्पित, अनुमानित और संदिग्ध बातें इतिहास नहीं हैं। इस रूप में इतिहास सत्यान्वेषण है, सत्यानुसन्धान है। इतिहास के इस अर्थ पर ध्यान देने से ज्ञात होगा कि संसार में भारतवर्ष ही एकमात्र ऐसा देश है, जहाँ के मनीषियों ने इतिहास के अर्थ और मर्मदोनों को समझा और अनुभव किया था। यही एकमात्र ऐसा देश है, जहाँ इतिहास की एक निश्चित परिभाषा दी गई थी

‘धर्मार्थकाममोक्षणामुपदेशसमन्वितम्।

पूर्ववृत्तकथायुक्तमितिहासं प्रचक्षते॥’⁴

अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के उपदेश सहित तथा प्राचीन कथाओं से युक्त ग्रन्थ को ही ‘इतिहास’ कहा जाता है।

इतिहास की इस परिभाषा से यह स्पष्ट हो जाता है कि इतिहास केवल पूर्वकाल की घटनाओं व तथ्यों का संकलन-मात्र ही नहीं, बल्कि उसमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का उपदेश भी होना चाहिए। किस राजा ने कब युद्ध किया, कौन जीता, कौन हारा; किसने कौन-सा देश अपने अधिकार में कर लिया, सन्-संवत्-समय; केवल इन्हीं बातों को हमारे पूर्वज ‘इतिहास’ नहीं कहते थे। जबतक उसमें धर्म और मोक्ष का उपदेश न हो, तब तक पूर्वकथा होने पर भी कोई ग्रन्थ ‘इतिहास’ नहीं कहलाता था। दुर्योधन, कंसादि राजाओं का प्रजा को पीड़ा पहुँचाने से किस प्रकार नाश हुआ और राजा रघु, राम आदि महात्मा नृपतिगणों ने प्रजापालन में तत्पर होकर कैसी-कैसी सिद्धियाँ प्राप्त कीं; राजा लोग प्रजा को सुरक्षित और सुखी रखने के लिए कैसे-कैसे यत्न करते थे, ये सब विषय इतिहास के अन्तर्गत हैं। आश्रमवासी, ऋषिमुनिगण संसार की ममता छोड़कर भी राजा और प्रजा के कल्याण की कामना

करते थे। इसी प्रकार प्रजा के पालन व दुष्टों के दमन में धर्म की वृद्धि और अधर्म से नाश स्पष्ट रूप से दिखाना ही इतिहास का प्रधान उद्देश्य है।

इतिहास में सम्पूर्ण ज्ञातव्य विषय होने चाहिए। किस राजा के समय में प्रजा की क्या अवस्था थी, राज्य में किस प्रकार वाणिज्य-व्यापार होता था; विद्या की चर्चा, प्रजाजन का सुख, राजा का धन व बल, ज्ञान की वृद्धि और उसी के साथ धर्माचरण और कर्तव्य का उपदेश व अकर्तव्य का निषेध एवं मोक्षधर्म की शिक्षा-प्रणाली इत्यादि विषय इतिहास में होने चाहिए।

‘साहित्य दर्पण’ में ग्रन्थकार ने सूचित किया है कि ‘इतिहास पाठ करने का फल यह है कि पढ़नेवाला व्यक्ति राम आदि की भाँति बर्ताव करने का यत्न करे और रावणादि दुष्टों के चरित्र से घृणा करे और यदि चरित्र वैसा दूषित हो तो उसे छोड़ने का यत्न करे।’ धर्मसम्राट् स्वामी करपात्री जी महाराज (1909-1982) ने भी लिखा है कि ‘बुरी घटनाओं का वर्णन बुरे कामों से बचने और सावधान करने के लिए होता है तथा अच्छी घटनाओं का वर्णन गुण ग्रहण एवं प्रोत्साहन के लिए होता है। इसलिए रामायण के अध्ययन से यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए कि राम-भरत आदि के समान बर्तना चाहिए, रावणादि की तरह नहीं। महाभारत पढ़कर यह पाठ सीखना चाहिए कि युधिष्ठिर के समान बर्ताव करना चाहिए, दुर्योधन आदि के समान नहीं। रामादिवद् वर्त्तितव्यं न यथा रावणादिवत्। युधिष्ठिरादिवद् वर्त्तितव्यं दुर्योधनादिवत्॥’⁵ कहने का तात्पर्य यह है कि जब तक इतिहास-पाठ करके त्याग व स्वीकार का ज्ञान न हो, तब तक केवल सन् व संवत् जान लेने से इतिहास पढ़ने का यथार्थ फल नहीं मिलता।

अस्तु! इतिहास की उपर्युक्त परिभाषा और लक्षण के अनुसार अष्टादश महापुराण⁶, अष्टादश उपपुराण⁷, 36 अन्य पुराण-ग्रन्थ⁸, रामायण⁹ एवं महाभारत¹⁰ ग्रन्थ इतिहास के अन्तर्गत हैं; और जितने भी नवीन ‘तवारीख’ और ‘हिस्ट्री’ हैं, जिनमें धर्म और मोक्ष के उपाय वर्णित नहीं हैं, वे ‘इतिहास’ नहीं कहे जा सकते।

आजकल लोग जिसे ‘इतिहास’ कहते हैं, वह वास्तव में ‘इतिकथा’ है। इतिकथा है घटनावलियों का क्रमिक समाहार; घटनाओं का क्रमिक पंजीकरण, छिन्न-विच्छिन्न घटनाओं का एक धारावाहिक विवरण। इस पंजीकरण से लोक-शिक्षा हो भी सकती है, नहीं भी हो सकती है। इसका लक्ष्य लोक-शिक्षा नहीं है। भिन्न-भिन्न राजाओं के जन्म और मृत्यु की तिथि कण्ठस्थ करने से किसी का कुछ भी भला नहीं होता, पर सामयिक जीवन की धाराएँ किसी विशेष समय में अथवा जीवन के किसी विशेष पक्ष में समाज किस प्रकार आगे बढ़ा, इसका कुछ ज्ञान ‘इतिकथा’ से अवश्य हो जाता है। इतिकथा के अध्ययन से पुराकालीन सामाजिक अवस्था के बारे में जाना जा सकता है, वर्तमान से उसकी तुलना की जा सकती है। संस्कृत में इतिकथा के अनेक पर्यायवाची शब्द हैं, जैसे ‘पुराकथा’, ‘इतिवृत्त’,

‘पुरावृत्त’ इत्यादि। परन्तु अंग्रेजी में इसके लिए केवल एक ही शब्द है हिस्ट्री।

‘इतिहास’ इतिकथा का सोद्देश्य विकसित रूप है। इतिकथा-लेखन के जिस रूप में शिक्षागत मूल्य सन्निहित हो, उसे ही इतिहास कहते हैं। स्कूल-कॉलेजों के पाठ्यक्रमों में जो ‘भारत का इतिहास’, ‘ब्रिटेन का इतिहास’, ‘यूरोप का इतिहास’ कहकर पढ़ाया जा रहा है, वह वास्तव में इतिकथा है, इतिहास नहीं। इतिकथात्मक सारी रचनाएँ ‘इतिहास’ नहीं हैं। इतिहासलेखन सोद्देश्य होता है, जबकि इतिकथा प्रामाणिक पंजीकरण-मात्र होती है।

इतिहास एवं पुराण

इतिहास एवं पुराणदोनों शब्दों से इतिहास का ही बोध होता है। अर्थात् इतिहास एवं पुराण एक-दूसरे के पर्यायवाची हैं। परन्तु प्रायः अपने देश के तथाकथित दिग्गज विद्वान् पुराणों का अर्थ अंग्रेजी के ‘माइथोलॉजी’ (mythology) के हिन्दी अनुवाद के रूप में स्वीकार करते हैं। ‘माइथोलॉजी’ शब्द ‘मिथ’ (myth) से बना है। और ‘मिथ’ का अर्थ है ‘मिथ्या’ अर्थात् जिसका कोई अस्तित्व न हो। इस प्रकार समस्त पौराणिक साहित्य को ‘माइथोलॉजी’ अर्थात् ‘मिथ्या’ अर्थात् काल्पनिक घोषित कर दिया गया है।

परन्तु हमारी मान्यता है कि हमारे पुराण हमारा इतिहास हैं। यह सत्य है कि वे हमारा काव्य भी हैं। काव्य में कल्पना का समावेश अवश्य होता है, किन्तु हमारा पौराणिक काव्य इतिहासाश्रित है, उसमें काव्यात्मक कल्पना का मिश्रण नहीं हुआ है। पौराणिक साहित्य में स्थान-स्थान पर इतिहास को पुराण से सम्बद्ध किया गया है

‘इतिहासपुराणस्तु निश्चयोऽयंकृतः पुरा।’¹¹

‘इतिहासपुराणानि श्रुत्वा भक्त्या द्विजोत्तमाः।’¹²

‘इतिहासपुराणाभ्यां न त्वन्यत् पावनं नृणाम्।’¹³

‘इतिहासपुराणानि श्रुत्वा भक्त्या विशेषतः।’¹⁴

‘इतिहासपुराणानि पंचमं वेदमीश्वरः।’¹⁵

केवल पुराणों में ही नहीं, अपितु वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, दर्शन और महाभारत में भी इतिहास को पुराण एवं पुराण को इतिहास ही कहा गया है

‘इतिहासपुराणं च गावश्च नाराशंसीश्चानुष्यचलन्।’¹⁶

‘इतिहासपुराणम्।’¹⁷

‘इतिहासपुराणं गाथा नाराशंसीरित्यहरहः स्वाध्यायमधीते।’¹⁸

‘इतिहासपुराणं पुष्पं।’¹⁹

‘ते वा एतेऽथर्वागिरस एतदितिहासपुराणमभ्यतपँस्तस्याभिरप्यस्य।’²⁰

‘चतुर्थ मितिहासपुराण’²¹

‘इतिहासपुराणः पंचमो वेदानां वेदः’²²

‘चतुर्थ मितिहासपुराण पंचम वेदानां वेद’²³

‘इतिहासपुराणार्थं कात्स्नर्येन विदितास्तव’²⁴

इतना ही नहीं, भविष्य महापुराण में तो एक जगह स्पष्ट रूप से अंकित है कि अष्टादश महापुराण इतिहास ही हैं

‘अष्टादश पुराणानि सेतिहासानि भारत’²⁵

कौटिल्य (16वीं शताब्दी ई.पू.) के अनुसार पुराण, रामायण, महाभारत आदि इतिहास; आख्यायिका, उदाहरणमीमांसा आदि मन्वादि धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्रइन्हें ‘इतिहास’ ही समझना चाहिए

‘पुराणमितिवृत्तमाख्यादिकोदाहरणं धर्मशास्त्रमर्थशास्त्रंचेतीहासः’²⁶

कौटिल्य ने भी इतिहास को पुराणों से सम्बद्ध किया है

‘इतिहासपुराणाभ्यां बोधयेऽर्थशास्त्रवित्’²⁷

कुछ विद्वानों को भ्रम है कि जिस प्रकार बाइबिल, कुरान शरीफ, जेन्दावेस्ता आदि धर्म-ग्रन्थ हैं, उसी प्रकार पुराण भी हिन्दुओं के धर्म-ग्रन्थ हैं। लेकिन यह बात भी सही नहीं, क्योंकि पुराणों में धर्मशास्त्रों को पुराणों से भिन्न बताया गया है

‘अंगानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः।

पुराणं धर्मशास्त्रं च विद्या ह्येताश्चतुर्दश॥

आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वश्चैव ते त्रयः।

अर्थशास्त्रं चतुर्थं विद्या ह्यष्टादशैव ताः॥’²⁸

अर्थात्, 6 वेदांग²⁹, 4 वेद, मीमांसा, न्याय, पुराण, धर्मशास्त्र, आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद और अर्थशास्त्रये 18 विद्याएँ हैं।

उपरोक्त प्रमाण से स्पष्ट है कि धर्मशास्त्र और पुराण (इतिहास) अलग-अलग विद्याएँ हैं। इसलिए पुराण धर्मशास्त्र या धर्मग्रन्थ नहीं हैं। गोस्वामी तुलसीदास (1497-1623) ने रामकथा पर आधारित ‘श्रीरामचरितमानस’ की रचना भारतीय इतिहास को पुनर्जीवित करने के लिए नहीं, बल्कि धर्म को जाग्रत करने के लिए की, इसलिए श्रीरामचरितमानस एक धार्मिक ग्रन्थ है। परन्तु पुराणों की रचना धर्म के जागरण के लिए नहीं, बल्कि इतिहास के निरूपण हेतु की गई, इसलिए पुराण ऐतिहासिक ग्रन्थ हैं।

पुराण सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर और वंशानुचरितइन पाँच लक्षणों से युक्त होते हैं, इसलिए भी वे ऐतिहासिक ग्रन्थ हैं

‘सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।

वंशानुचरितं चैव पुराणं पंचलक्षणम्॥’³⁰

आज के विद्वान् यह नहीं समझते या समझना नहीं चाहते कि पुराणों का इतिहास देवलोक एवं पृथ्वीलोक का सम्मिलित इतिहास है। प्राचीन सत्ययुग से द्वापर के अन्त तक भारतवासियों का देवलोक से प्रत्यक्ष सम्पर्क था। देवता यहाँ पधारते थे और मनुष्य देवलोक की सशरीर यात्रा करते थे। फलतः पुराणों में देवलोक और पृथ्वीलोक का मिला-जुला वर्णन है। इस भेद को न समझकर और पूरा इतिहास पृथ्वी पर का मानकर ये इतिहासकार देवताओं को भी पृथ्वी का राजा या व्यक्तिविशेष मानने का यत्न करते हैं और घटनाक्रम का समाधान न पाकर पुराणों को ‘माइथोलॉजी’ ठहराने लगते हैं। आज का मानव, वीर्यहीन, बलहीन, संकल्पहीन हो गया है। वह देवलोक की स्थिति को नहीं समझ पाता। किन्तु हमारे महान् पूर्वज केवल पाँच हजार वर्ष पूर्व तक देवलोक के प्रत्यक्ष सम्पर्क में रहे हैं। पुराणों के इतिहास को यह समझकर ही देखने से ठीक तात्पर्य ज्ञात होगा।

इतिहास के सम्बन्ध में पुराणों की दीर्घकालीन तपस्याएँ, दीर्घ जीवन, दीर्घाकृतियाँ, विशाल संख्याएँ भी विद्वानों को उलझन में डालती हैं। दीर्घायु के सम्बन्ध में तो कुछ कहना ही नहीं है। मनुष्य उत्तरोत्तर अल्पजीवी होता जा रहा है। समाचार-पत्रों में नौ, दस तथा पाँच वर्ष की लड़कियों के सन्तान होने की बात छप चुकी है। आज भी सवा सौ-डेढ़ सौ वर्ष के व्यक्ति जीवित हैं और तब भी साठ-सत्तर वर्ष की आयु लम्बी मानी जाती है। जब सौ-पचास वर्षों में यह स्थिति है, तब लाखों-करोड़ों वर्ष पूर्वसत्ययुग, त्रेता और द्वापर में क्या स्थिति रही होगी, इसका श्रद्धापूर्वक अनुमान तो लगाया ही जा सकता है! किन्तु हास होता है, यह देखकर भी कुतर्क करनेवाले को सन्तुष्ट नहीं किया जा सकता। आकृति के सम्बन्ध में भी यही बात है। विज्ञान यह स्पष्ट कहता है कि मनुष्य के आकार में, बल में हास हो रहा है। अमेरिकी जेनेटिक विज्ञानी जॉन ग्लैड ने अपनी पुस्तक ‘द फ्यूचर इवॉल्यूशन ऑफ मैन’ (The Future Evolution of Man) में लिखा है कि ‘ऑकड़े गवाह हैं कि मनुष्य की औसत ऊँचाई और आयु घट रही है।’ यूरोप में प्राचीन मनुष्यों की जो खोपड़ियाँ मिली हैं, वे आज के मनुष्य की खोपड़ी से लगभग ढाई गुनी बड़ी हैं। मिस्र में मनुष्य के सुरक्षित शव (ममी) मिले हैं। दिल्ली के पास ही एक मानव खोपड़ी मिली थी, जिसके नेत्रों के छिद्रों से आज के मानव का सिर सरलता से निकल सकता था। अतः पुरानी दीर्घाकृतियाँ हमारी समझ में भले न आएँ, किन्तु बुद्धि के बाहर की नहीं हैं। उनकी सत्यता का अनुमान किया जा सकता है।³¹

एक महत्त्वपूर्ण बात और भी है कि क्या हमारे वे महान् पूर्वज, जिन्होंने भारत को जगद्गुरु के पद पर प्रतिष्ठित किया, झूठ लिखते थे? जिन पूर्वजों ने सदा-सर्वदा सत्य का ही पक्ष लिया, सत्य को ही उद्घाटित और प्रतिष्ठित किया, सत्य की रक्षा

के लिए प्राणोत्सर्ग किया, सत्य ही जिनके लिए सबकुछ था, 'सत्यमेवजयति नानृतम्'³², 'सत्यम् वद'³³ और 'सत्यम् ब्रूयात्'³⁴ ही जिनका आदर्श वाक्य था, ऐसे महान् पूर्वजों ने बुद्धि-विलास के लिए झूठ लिखा? केवल 'सत्य' की रट लगानेवाले व्यास, वाल्मीकि, भृगु, याज्ञवल्क्य ने झूठ लिखा? नहीं! कदापि नहीं!! यदि पुराण 'माइथोलॉजी' हैं, रामायण और महाभारत काल्पनिक उपन्यास हैं, तो दुनिया की तमाम पुस्तकें माइथोलॉजी अर्थात् काल्पनिक हैं। ऐसा हमारा मत है।

प्राचीन मुसलमान लेखक सम्भव और असम्भवसभी विषयों को एकत्र करके अपना ग्रन्थ लिखते थे। जिस बादशाह के समय में इतिहासकार विद्यमान होता था, इतिहासकार उस बादशाह की बड़ी प्रशंसा और उसके शत्रुओं की व्यर्थ निन्दा लिखता था। वह यदि ऐसा न लिखता तो उसका बनाया हुआ ग्रन्थ बादशाह की आज्ञा से नष्ट कर दिया जाता। सम्पूर्ण विषय जानकर यथार्थ लिखना मुस्लिम लेखकों को आता ही नहीं था। विशेषकर अन्य मतावलम्बियों के विषय में जानना तो और भी कठिन था एवं उस बात पर उस समय के इतिहासकार ध्यान भी नहीं देते थे। मुसलमान बादशाह या भारतवर्ष पर आक्रमण करनेवाले विजेता हिन्दुओं के मन्दिर तोड़ते और नष्ट कर देते थे; बस इतिहासकारों ने यह लिख दिया कि 'काफिरों का नारकीय स्थान तोड़ दिया।' उन चाटुकार इतिहासकारों ने यह भी जानने की कोशिश नहीं की कि उस मन्दिर में कौन-से देवता की मूर्ति कितनी प्राचीन थी या किस राजा अथवा धनी का बनवाया हुआ मन्दिर था। ऐसी तमाम विसंगतियाँ प्राचीन और मध्यकालीन मुस्लिम लेखकों की पुस्तकों में भरी पड़ी हैं; फिर भी उन्हें 'ऐतिहासिक ग्रन्थ' माना जाता है। ई. जे. रैप्सन, रामकृष्ण गोपाल भाण्डारकर (1837-1925), विन्सेन्ट आर्थर स्मिथ (1843-1920), फ्रेडरिक ईडन पार्जीटर (1852-1927), देवदत्त रामकृष्ण भाण्डारकर (1875-1950), काशी प्रसाद जायसवाल (1881-1937), अनन्त सदाशिव अल्तेकर (1889-1959), हेमचन्द्रराय चौधरी (1892-1957), सीतानाथ प्रधान, रंगाचार्य, जयचन्द्र विद्यालंकार आदि ने अपने ऐतिहासिक ग्रन्थों, समीक्षाओं, शोध-प्रबन्धों और लेखकों में पौराणिक सामग्री का भरपूर उपयोग किया है।

भारत का पौराणिक इतिहास संवाददाताओं के तार, टेलीप्रिंटर के आधार पर या अटकलों के आधार पर नहीं बना; और न किसी मूर्ति, शिलालेख, स्तम्भों अथवा मुद्राओं के आधार पर ही बना है। रामायण, महाभारतादि आर्ष इतिहास के लेखक वाल्मीकि, व्यास आदि समाधिजन्य ऋतम्भरा प्रज्ञा के अनुसार घटनाओं को पूर्णतया जानकर ही इतिहास लिखने में संलग्न हुए थे। उन्होंने जो भी दिव्य-दृष्टि से देखा, वही लिखा। योग से ऐसा होना असम्भव नहीं; इसलिए अधूरी, भ्रान्तिपूर्ण खोजों के आधार पर पुराणों के किसी नियम को गलत नहीं ठहराया जा सकता, वो भी ऐसी स्थिति में जब उनके वर्णन क्रमशः सत्य सिद्ध होते जा रहे हैं। पुराण दिव्य, अपौरुषेय

और ईश्वरीय ज्ञान हैं। वे ही हिन्दू संस्कृति के प्रेरक, पोषक और भण्डार हैं। उनमें न तो विकृति आई है और न उनकी कोई बात कोरी कल्पना ही है। पुराणों के वर्णन जहाँ रूपक हैं, वहाँ उन्हें स्पष्ट रूप से रूपक बता दिया गया है, जैसे भागवत महापुराण का 'पुरंजनोपाख्यान'। शेष वर्णन अक्षरशः सत्य हैं। वे रूपक नहीं हैं।

पुराणों में अनेक ऋषियों या प्रधान पुरुषों की चरित-सम्बन्धी त्रुटियों के वर्णन हैं। ऐसी त्रुटियों के न करने का कहीं आदेश तो है नहीं; लेकिन सत्य को कहीं छिपाया भी नहीं गया है। इस सम्बन्ध में साधारण दृष्टि और महापुरुषों की दृष्टि में ही अन्तर होता है। महापुरुषों का दृष्टिकोण होता है कि उनकी त्रुटियाँ प्रकट हो जाने से समाज सावधान होगा। लोग समझ लेंगे कि इतनी उच्च स्थिति में भी ऐसे विकार आ सकते हैं; वे प्रमाद नहीं करेंगे। पुराणों में महर्षियों ने इसी दृष्टिकोण से त्रुटियों को छिपाया नहीं है यदि राम केवल काल्पनिक आदर्श मात्र होते तो वाल्मीकि उनके चरित्र को रामायण के आदि से अन्त तक निष्कलंक ही रखते, छल से बालि-वध जैसी घटनाओं को कभी न लाते। वाल्मीकि रामायण को पढ़कर यह स्पष्ट हो जाता है कि कथानक की ऐतिहासिकता के सम्बन्ध में आदि-कवि को कोई सन्देह न था।

पुराणों की कालगणना

पुराणों में घटनाक्रम की कालबद्ध चर्चा परार्ध, कल्प, मन्वन्तर, युग और संवत्सर में की गई है। परार्ध, कल्प, मन्वन्तर, युग और संवत्सर का प्रयोग भारत-भर के हिन्दू और संसारभर में फैले प्रवासी हिन्दू अपने दैनिक जीवन में 'संकल्प पाठ' के अन्तर्गत करते हैं। किसी भी धार्मिक कृत्य को करने से पूर्व हाथ में जल और अक्षत लेकर 'संकल्प पाठ' किया जाता है। सारे भारतवर्ष में आज तक चलनेवाले 'संकल्प पाठ' के मन्त्र समान हैं। 'संकल्प पाठ' में कहा जाता है "...श्री ब्रह्मणो द्वितीय परार्धे श्रीश्वेतवाराहकल्पे वैवस्वत मन्वन्तरे अष्टाविंशतितमे कलियुगे कलि प्रथम चरणे विक्रमाब्द...शालिवाहन शके...जम्बूद्वीपे भारतवर्षे भरतखण्डे आर्यावर्तकेदेशांतर्गते ब्रह्मावर्तकेपुण्यप्रदेशे बुद्धावतारे वर्तमाने यथानाम संवत्सरे अमुकायने महाभाग्यप्रदे मासानाम् उत्तमे अमुकमासे अमुकपक्षे अमुक तिथौ अमुकवासरान्वितायाम् अमुकनक्षत्रे..."¹⁵ अर्थात् ब्रह्मा के द्वितीय परार्ध के श्वेतवाराह कल्प के वैवस्वत मन्वन्तर के 28वें कलियुग के प्रथम चरण में विक्रम संवत्...और शालिवाहन संवत्...में जम्बूद्वीप के भारतवर्ष के भरतखण्ड के आर्यावर्त के अन्तर्गत ब्रह्मावर्त नामक पुण्यप्रदेश में, जब (अन्तिम बार) भगवान् बुद्ध का अवतार हुआ था; अमुक संवत्सर के अमुक अयन के अमुक मास के अमुक पक्ष में अमुक तिथि को अमुक वार को और अमुक नक्षत्र में...अमुक कार्य हेतु मैं संकल्प कर रहा हूँ।

यही है हमारी परम्परागत कालगणना। पुराण इसी कालगणना के अन्तर्गत तथ्यों का विवरण देते हैं। इस कालगणना के अनुसार ब्रह्माण्ड की कुल आयु 31,10,40,00,00,00,00 वर्षों में से 15,55,21,97,29,49,110 वर्ष और सृष्टि की कुल आयु 4,32,00,00,00 वर्ष में से 1,97,29,49,110 वर्ष व्यतीत हो चुके हैं। नई वैज्ञानिक खोजों से भी पृथ्वी की आयु लगभग दो अरब वर्ष ज्ञात हुई है। भारतीय वैज्ञानिक सुब्रह्मण्यम चन्द्रशेखर ने भी गणना करके बताया है कि पृथ्वी की आयु लगभग दो अरब वर्ष है। सर जे जीस ने कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में 'आश्चर्यजनक सृष्टि' विषय पर अपने व्याख्यान में बताया है कि सृष्टि को प्रारम्भ हुए लगभग दो अरब वर्ष बीते हैं। पौराणिक कालगणना और आधुनिक विज्ञान के आँकड़ों का यह मेल बड़ा ही विलक्षण है।

सृष्टि की कुल आयु (4,32,00,00,00 वर्ष) को एक कल्प कहते हैं। एक कल्प में सूर्य 14 बार आकाशगंगा की परिक्रमा करता है। इसलिए एक कल्प में 14 मन्वन्तर कहे गए हैं। 14 मन्वन्तरों में 1,000 चतुर्युग होते हैं। एक चतुर्युग 43,20,000 वर्षों का होता है : सत्युग 17,28,000 वर्ष + त्रेतायुग 12,96,000 वर्ष + द्वापरयुग 8,64,000 वर्ष + कलियुग 4,32,000 वर्ष। ऋग्वेद की अक्षर संख्या भी 4,32,000 है

*'स ऋचो व्यौहत् । द्वादश बृहती सहस्राणि एतावत्यो हच्चो या प्रजापतिसृष्टाः ।'*³⁶

अर्थात्, ऋग्वेदों को संचित करके प्रजापति ने ब्यूह बनाया। उसमें बारह बृहती सहस्र अक्षर लगे। बृहती छंद = 36 अक्षर। इसलिए $36 \times 12 \times 100 = 4,32,000$ ऋक् अक्षर।

सत्ययुग = 4 कलियुग; त्रेतायुग = 3 कलियुग; द्वापरयुग = 2 कलियुग। इस प्रकार 10 कलियुग का एक चतुर्युग हुआ। इसी को सहस्र गुणित (सहस्रशीर्षा पुरुषसूक्त) करने से एक कल्प बनता है। यही सृष्टि है। इसी तरह प्रलय भी एक कल्प के बराबर ही होता है। हमारी यह कालगणना तथाकथित इतिहासकारों की कालगणना की तुलना में बहुत अधिक प्राचीन है।

पुराणों के रचयिता और रचनाकाल

*'स यथाद्रैधाग्निभ्याहितात्पृथग्धूमा विनिश्चरन्त्येवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथवांगिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषद्ः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानान्यस्यैवैतानि विश्वसितानी ।'*³⁷

अर्थात्, 'जैसे गीले ईंधन में अग्नि लगाने से धुआँ निकलता है, उसी प्रकार ऋग्वेद,

यजुर्वेद, सामवेद, आंगिरस, अथर्ववेद, इतिहास-पुराण, विद्या (धनुर्वेदादि), उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, मन्त्रविवरण तथा अर्थवादवे इस महद्भूत (परमात्मा) के ही निःश्वास हैं।'

उपर्युक्त श्लोक में ही श्रुति ने पुराणादि समस्त शास्त्रों को अपौरुषेय, अनादि बतलाया है। यह ईश्वरीय ज्ञान ब्रह्माजी को मिला। उनसे

'इतिहासपुराणानि पंचमं वेदमीश्वरः ।

*सर्वेभ्य एव वक्त्रेभ्यः ससृजे सर्वदर्शनः॥'*³⁸

अर्थात्, इतिहास-पुराणरूपी पाँचवें वेद को उन समर्थ, सर्वज्ञ ब्रह्माजी ने अपने सभी मुखों से प्रकट किया।

स्पष्टतः पुराण भी अनादि ईश्वरीय ज्ञान ही हैं। वेदों की ही भाँति पुराणों की भी परम्परा प्राप्त होती है और 4 लाख श्लोकवाला एक ही मूल पुराण अधिकारी-भेद से शाखा-भेद में विस्तृत हुआ, यह भी पुराणों से ज्ञात होता है। महर्षि कृष्णद्वैपायन व्यास (53वीं शताब्दी ई.पू.) ने पुराणों की नवीन रचना नहीं की। उन्होंने सृष्टि के प्रारम्भ से चली आ रही पुराण-परम्परा को व्यवस्थित-भर किया अष्टादश पुराणों का उसे रूप दिया। आज जो पुराण प्राप्त है, वे पिछले द्वापर के अन्त में महर्षि कृष्णद्वैपायन व्यास द्वारा व्यवस्थित किए पुराण हैं।³⁹ इस प्रकार प्रत्येक द्वापर से पुराण व्यवस्थित होते आए हैं। स्वयं ब्रह्माजी ने व्यास के रूप में प्रत्येक द्वापर में पुराणों का संग्रह किया है

'व्यासरूपस्तदा ब्रह्मा संग्रहार्थं युगे युगे ।

*चतुर्लक्ष प्रमाणेन द्वापरे द्वापरे जगौ॥'*⁴⁰

वर्तमान वैवस्वत मन्वन्तर के 28 चतुर्युगों के द्वापर में हुए व्यासों की सूची विष्णु महापुराण⁴¹ में दी हुई है। व्यास-परम्परा ने पुराणों को व्यवस्थित-भर किया है; परन्तु पुराणों का समस्त वर्णन, पूरे उपदेश तथा घटनाएँ अनादि हैं। इस प्रकार पुराणों की वाणी तो व्यासकृत है; किन्तु उनका वर्णन, ज्ञानादि अपौरुषेय है, नित्य है।⁴²

वेदों में इतिहास

आज के तथाकथित विद्वान् वेदों को ऐतिहासिक ग्रन्थ के रूप में निरूपित करते हैं। वेदों में से इतिहास ढूँढ़ निकालने का सिद्धान्त भारतीय विद्वानों ने पश्चिम से उधार लिया है। अर्थात् पश्चिम ने वेदों में देवतावाद, इतिहास, आख्यायिका-विकास, भाषा-विज्ञान आदि अध्ययन के विषय हमें प्रदान किए हैं। ऋग्वेद के समय के भारत तथा उसकी धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक स्थिति को लेकर जो हजारों ग्रन्थ पिछले सौ वर्षों में लिखे गए हैं, उनके अगुआ पाश्चात्य इतिहासकार ही हैं। उन्हीं की शैली का अन्धानुकरण कर भारत के विद्वान् इतिहास-लेखन के कार्य में

जुटे हुए हैं। जबकि वेद अपौरुषेय हैं, उनमें एक अक्षर भी इतिहास नहीं है। उनका मनुष्यकृत होना सनातन धर्म को स्वीकार्य नहीं है। यास्कराचार्य ने भी स्पष्ट लिखा है

‘ऋषयो मन्त्रद्रष्टाराः। ऋषि दर्शनात्। स्तोमान् ददर्शेत्यौपमन्यवः। तद्स्तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भवभयामर्षत्।’⁴³

अर्थात्, वेदों में प्रयुक्त स्तुति आदि विषयक मन्त्रों के वास्तविक अर्थ का साक्षात्कार करनेवाले को ही ‘ऋषि’ के नाम से पुकारा जाता है। तपस्या या ध्यान करते हुए जो इन्हें स्वयम्भू नित्यवेद के अर्थ का ज्ञान हुआ, इसलिए वे ‘ऋषि’ कहलाए और वेदमन्त्रों का रहस्य-सहित अर्थ-दर्शन ही उनका ऋषित्व है।

मनुस्मृति की व्याख्या में कुलार्क भट्ट ने लिखा है

‘ब्रह्माद्या ऋषिपरियन्ता स्मारकाः न कारकाः।’

अर्थात्, ब्रह्मा से लेकर आजतक सभी ऋषि वेद-मन्त्रों को स्मरण रखनेवाले व पढ़ने-पढ़ानेवाले रहे हैं; कोई भी उनका कर्ता, लेखक या रचयिता नहीं है।

इस प्रकार वेद लिखे नहीं गए। उन्हें कण्ठगान के माध्यम से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को सम्प्रेषित किया जाता था। इसलिए, वेदों को ‘श्रुति’ भी कहा गया, अर्थात् सुनने-सुनाने का ग्रन्थ। ब्रह्मा की प्रत्येक सृष्टि (कल्प) के प्रत्येक मन्वन्तर के हर चतुर्युग के द्वापर में व्यास-परम्परा द्वारा वेदों को सुरक्षित रखा जाता है। ये व्यास-ऋषि वेदों में धन, जटा, माला, शिखा आदि अनेक पाठों की व्यवस्था करके उन्हें ज्यों-का-त्यों बनाए रखते हैं। इसलिए भारतवासियों के लिए वेद-ज्ञान सनातन, अपौरुषेय, अमर, अनन्त अर्थात् त्रिकालातीत हैं। ‘वेद भूतकाल के लिए थे, किसी युग-विशेष के मस्तिष्क की उपज थे और उसी समय के समाज के लिए उनका उपयोग होता था’ इत्यादि बातें पाश्चात्य और उनके पदानुगामी भारतीय विद्वानों के मस्तिष्कों में सबसे पहले आती हैं। भारतवर्ष का जो स्वदेशी जीवन है, उसके रोम-रोम में वेद अब भी विद्यमान है। हमारे समस्त संस्कार, नित्यकर्म अब भी उन्हीं वेद-मन्त्रों से होते हैं, जिन्हें ‘पूर्व पूर्वजनाः’, ‘पूर्व ऋषयः’ अब से पाँच या दस या बीस हजार वर्ष या 1,97,29,49,110 वर्ष पूर्व गाते थे।

कुछ विद्वान् वेदों को बीस या तीस हजार वर्ष पुराना कहकर बड़े प्रसन्न होते हैं। परन्तु यह भाव सनातन धर्म के परम्परागत विचार के विरुद्ध है। वेदों को पाँच हजार वर्ष पुराना कहें या बीस हजार वर्ष, उससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। इन दोनों का ही आर्य-अनुश्रुति से विरोध है। हिन्दू भाव तो वेदों को सनातन मानता है।

आज जो यूरोप सोचता है, उसी की छाया भारतीय विद्वान् सर्वत्र ढूँढ़ते हैं। यूरोप के ही ढले हुए शब्दों, यथा ‘कम्युनिज्म’, ‘सोशलिज्म’, ‘डिमॉक्रेसी’, ‘नेशनलिज्म’ आदि में सब सभ्यताओं के इतिहास को घसीट लाने की कोशिश करते हैं। अपना

दर्शन जबतक पश्चिमी परिभाषा में न कहा जाए, तब तक वह युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता। पश्चिम के शब्द पाकर मानो वह नए आलोक में खिल उठता है। भारत के तथाकथित विद्वानों ने पश्चिम का पदानुकरण करते हुए भारतीय इतिहास को प्राचीन मध्यकालीन एवं आधुनिकइन तीन कल्पित काल-विभागों में बाँटकर, भारतीय संस्कृति को प्राचीन काल में ढूस दिया है। और इस प्रकार ‘भारतवर्ष का इतिहास’ अभी लिखा ही नहीं गया है। इस नाम से जो पुस्तकें प्रचलित हैं, वे पाश्चात्य विद्वानों के विचारों के नमूने हैं। ‘इतिहास’ शब्द का जो अर्थ वे लगाते हैं, उसी के अनुसार यहाँ का इतिहास उन्होंने लिखा है।

विगत कई हजार वर्षों से रामायण और महाभारत के साथ पुराण भी भारतीय जीवन को अपने विविध आदर्श चरित्रों से अनुप्राणित और प्रभावित करते चले आ रहे हैं। राम, कृष्ण, हरि, शिव आदि नाम आज भी करोड़ों हिन्दुओं के जीवनाधार हैं। दीन-दुःखी जनता के छिन्न-विच्छिन्न स्नायुओं और भग्न हृदयों को बल देकर तथा उसमें आशा-विश्वास का संचार कर पुराणों ने उन्हें उबारने का काम किया है।

और इस तरह इतिहास का भारतीय सामाजिक जीवन में बहुत बड़ा स्थान रहा है। प्राचीन भारत में किसी व्यक्ति की विद्वत्ता का निर्धारण उसके इतिहास-ज्ञान के आधार पर किया जाता था। प्रत्येक राजा के लिए इतिहास का ज्ञान अनिवार्य था। धार्मिक अनुष्ठानों, विवाहों, अश्वमेध-राजसूय-वाजपेय यज्ञों में इतिहास का वाचन अनिवार्य था। राजवंशों का इतिहास लिखने के लिए प्रत्येक हिन्दू राजा के दरबार में विद्वान् नियुक्त होते थे। तीर्थयात्राओं में परिवारों के पण्डे उनकी वंशावलियाँ लिखते थे। गया, जगन्नाथपुरी इत्यादि स्थानों में यह परम्परा आज भी विद्यमान है।

सन्दर्भ

1. जाह्नवी, मार्च 1980, पृ. 137
2. बृहदेवता, 14.46.5
3. निरुक्त, 2.101
4. विष्णुधर्मोत्तर पुराण, 3.15.1; काव्य मीमांसा, म.टी., 1.2
5. मार्क्सवाद और रामराज्य, पृ. 455
6. ब्रह्म महापुराण, पद्म महापुराण, विष्णु महापुराण, शिव महापुराण, भागवत महापुराण, नारद महापुराण, मार्कंडेय महापुराण, अग्नि महापुराण, भविष्य महापुराण, ब्रह्मवैवर्त महापुराण, लिंग महापुराण, वाराह महापुराण, स्कन्द महापुराण, वामन महापुराण, कूर्म महापुराण, मत्स्य महापुराण, गरुड महापुराण, ब्रह्माण्ड महापुराण।
7. सनत्कुमार, नारसिंह, बृहन्नारदीय, शिवधर्मोत्तर, दुर्वासस, कापिल, मानव, उशनस, वारुण, आदित्य, कालिका, साम्ब, नन्दिकेश्वर, सौर पाराशर, माहेश्वर, वसिष्ठ, भार्गव, शिव रहस्य।

8. आदि, मुद्गल, कल्कि, देवी, देवीभागवत, बृहद्धर्मोत्तर, परानन्द, पाशुपत, हरिवंश (महाभारत का खिलभाग), अंगिरा, आखेटक, आत्म, एकपाद, एकाम्र, क्रियायोगसार, गणेश, जालंधर, तत्त्वसार, ताप्ती, दत्तात्रेय, धर्म, प्रभास, बृहद्धर्म, बृहन्नन्दीश्वर, बृहन्नरसिंह, मरीचि, रेणुका, लघुनारद, लीलावती, वस्ति, वासुकी, विष्णुधर्म, विष्णुरहस्य, विष्णुधर्मोत्तर, हंस, सरस्वती ।
9. 24 हजार श्लोकोंवाला वाल्मीकीय रामायण ।
10. महर्षि कृष्णद्वैपायन (वेद) व्यास विरचित 1 लक्ष श्लोकोंवाला महाभारत एवं उसके समकालीन महर्षि जैमिनी विरचित 'जैमिनीयाश्वमेधपर्व' । इस विशाल महाभारत का केवल यही एक अध्याय वर्तमान है ।
11. नारद महापुराण, उ.अ. 24
12. भविष्य महापुराण, मध्यम पर्व, 1.7.3
13. वही, ब्राह्म पर्व, 216.34
14. वही, 216.43
15. भागवत महापुराण, 3.12.39
16. अथर्ववेद, 15.6.10.11
17. गोपथ ब्राह्मण, 1.1.21
18. शतपथ ब्राह्मण, 11.5.6.8
19. छांदोग्योपनिषद्, 3.4.1
20. वही, 3.4.2
21. वही, 7.1.2; 7.2.1
22. वही, 7.1.4; न्याय दर्शन, 4.1.62
23. छांदोग्योपनिषद्, 7.7.1
24. महाभारत, शान्ति पर्व, 50.36
25. ब्राह्म पर्व, 2.56
26. अर्थशास्त्र, 1.1.5.14
27. वही, 2.5.6.60
28. विष्णु महापुराण, 3.6.28.29; भविष्य महापुराण, ब्राह्म पर्व, अ. 1
29. 'शिक्षाकल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषम्' मुण्डकोपनिषद्
30. भविष्य महापुराण, उत्तर पर्व, 2.11; शिव महापुराण, 7.1.1.41
31. कल्याण, हिन्दू संस्कृति अंक, 1950 ई., पृ. 301-302
32. मुण्डकोपनिषद्, 3.1.6
33. तैत्तिरीयोपनिषद्, 1.11
34. मनुस्मृति, 4.138
35. श्रीदुर्गा सप्तशती, नित्यकर्म पद्धति
36. शतपथ ब्राह्मण, 10.4.2.23

37. बृहदारण्यकोपनिषद्, 2.4.10
38. भागवत महापुराण, 3.12.39
39. कल्याण, हिन्दू संस्कृति अंक, पृ. 295
40. पद्म महापुराण, सृष्टि खण्ड, 1.51
41. तृतीय स्कन्ध का तृतीय अध्याय
42. कल्याण, हिन्दू संस्कृति अंक, पृ. 295
43. निरुक्त, 2.11

सीता की खोज†

श्रीभगवान सिंह*

‘रामकथा’ जब से अस्तित्व में आई, उसकी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्त्री-चरित्र सीता को खोजने यानी उनकी विविध छवियों को पहचानने का सिलसिला चलता आया है। पुरुष-प्रधान-लेखन होने के कारण सीता की छवि आमतौर पर एक सती-साध्वी, पति अनुगामिनी एक गूँगी गुड़िया या पति राम की छाया रूप में उकेरी जाती रही जो पुरुष-वर्चस्व वाली मानसिकता के मेल में थी। सीता के व्यक्तित्व से स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति, सकारात्मक प्रतिरोध, स्वविवेक से निर्णय लेने का साहस जैसे तेजस्वी पक्षों को ओझल करते हुए उन्हें पति की इच्छाओं-निर्देशों पर कदमताल करनेवाली एक कठपुतली सदृश्य बना कर रख दिया गया। यही कारण था कि डॉ. राम मनोहर लोहिया जैसे प्रखर समाजवादी चिन्तक को भी सीता के चरित्र में स्वतन्त्र विचारों एवं विद्रोह की कोई ऊष्मा नहीं दिखाई पड़ी और इस दृष्टि से उन्होंने द्रौपदी के चरित्र को काफी महत्त्व दिया। किन्तु लेखन के क्षेत्र में महिलाओं के आने से ‘सीता की इस खोज’ में यह एक नया आयाम जुड़ता दिखता है कि उनके चरित्र में अन्तर्निहित स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति, विद्रोह आदि की भंगिमाओं को सामने लाया जाने लगा है। पिछले दिनों मैत्रेयी पुष्पा (जनसत्ता, 18 मई, 2007), अनामिका (वाक्, जनवरी-मार्च 2007) जैसी लेखिकाओं ने अपनी टिप्पणियों में सीता की इन विशिष्टताओं पर प्रकाश डालने का काम किया। लेकिन इस कार्य को बड़े फलक पर अंजाम देने का प्रयास किया है चर्चित लेखिका मृदुला सिन्हा ने ‘सीता पुनि बोली’ नाम से सीता पर आत्मकथात्मक उपन्यास लिख कर।

वैसे ‘आत्मकथा’, जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, स्वयं के द्वारा स्वयं के सम्बन्ध ‘आत्म-प्रकाशन’ की विधा के रूप में मान्य है, किन्तु मृदुला सिन्हा ने रचनाकार के ‘पर काया-प्रवेश’ के अधिकार का सृजनात्मक उपयोग करते हुए इस कार्य को बहुत खूबसूरती से सम्पन्न किया है। ‘राम-कथा’ पर लिखे काव्य-ग्रन्थों में राम की बाल

*श्रीभगवान सिंह, हिन्दी विभाग, भागलपुर, विश्वविद्यालय; पता : 164, तिलकामांझी, भागलपुर-812 001
‘सीता पुनि बोली’, मृदुला सिन्हा, विद्या विहार, 1660 कूचा दखनीराय, दरियागंज, नई दिल्ली-110002.
संस्करण : प्रथम, 2007; मूल्य : तीन सौ रुपए

लीलाओं से लेकर प्रौढ़ावस्था तक का चित्रण तो मिलता है, लेकिन सीता की बाल लीलाओं का शायद ही किसी में निरूपण हुआ हो। इस दृष्टि से ‘सीता पुनि बोली’ की पहली नवीनता इस बात में प्रकट होती है कि लेखिका सीता की बाल सुलभ चेष्टाओं, जिज्ञासाओं, बहनों एवं सखियों संग की क्रीड़ाओं की बड़ी ही मनोहारी स्वाभाविक छाटाएँ प्रस्तुत करती हैं। मसलन, आरम्भ में ही एक वाकया आता है जब उर्मिला बाल सुलभ ईर्ष्यावश माँ-बाप के प्यार पर अपना हक जताने के लिए सीता से कह बैठती है कि असली बेटी तो वह है, सीता तो धरती से जन्मी है। इसे लेकर सीता के अन्दर जो क्षोभ पैदा होता है उसका बड़ा ही मनोवैज्ञानिक चित्रण इस उपन्यास में हुआ है।

यह उपन्यास ‘मिथिलोत्सव, अवधोत्सव, वनोत्सव, लंकोत्सव, राज्योत्सव, आश्रमोत्सव, मातृ-उत्सव’ जैसे शीर्षकों से सात सोपानों में अन्तर्ग्रथित है जिनमें मुख्य फोकस सीता के बाल्य-जीवन से धरती में प्रविष्ट कर जाने की घटनाओं पर केन्द्रित है। यहाँ पर सीता के चरित्र, व्यक्तित्व निरूपण की विशिष्टता इस बात में है कि सीता की जगत जननी वाली दैवी प्रभा के आतंक से मुक्त होकर लेखिका पूर्णतः मानवीय धरातल पर उनकी बाल सुलभ क्रीड़ाओं, शारीरिक अवयवों के विकास, मनोभावों का चित्रण करते हुए सहज स्वाभाविक रूप से उनके रजस्वला होने तक का चित्र उकेर देती हैं। किन्तु इन प्रसंगों का समावेश सीता की मात्र यौवनावस्था एवं उससे जुड़े काम-भाव को दर्शाने के लिए नहीं, अपितु नारी-जीवन में मातृत्व की गरिमा को उजागर करने के लिए किया गया है। द्रष्टव्य है यह अंश “स्त्री के पेट में गर्भाशय होता है, जहाँ बच्चा पलता है। जब तक बच्चा नहीं पलता, रक्त का स्राव होता है। यही प्रकृति का विधान है। नियति द्वारा प्रदत्त इसी दायित्व से स्त्री पुरुष से विशेष होती है। मेरे मन में भी कुछ उत्सव...करने पिता राजा जनक को पुत्री सीता की नहीं है। इस प्रकार अवधपुरी...फूल जैसा चटका। तात्पर्य कि मेरे पेट में भी गर्भाशय है। मैं माँ के गर्भ में नहीं पली तो क्या, मेरे गर्भ में कोई पलेगा।” (पृ. 26)

मातृत्व नियति प्रदत्त दायित्व है जिसके कारण स्त्री का पुरुष से विशेष दर्जा होता है। ऐसी बात एक लेखिका द्वारा कहना इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि आज कतिपय स्त्रीवादियों ने मातृत्व को ही स्त्री-मुक्ति की सबसे बड़ी खलनायिका सिद्ध करने की मुहिम चला रखी है बिना यह सोचे-विचारे कि इसी मातृत्व की बदौलत उन्हें भी वह ‘देह’ प्राप्त हुई है जिसके सुख की चिन्ता ही उनके मुक्ति-आन्दोलन का सर्वोपरि लक्ष्य बन बैठी है। सीता के जीवन-चरित के माध्यम से लेखिका आज की ‘स्त्री बनाम पुरुष’ वाली बहस को निरस्त करते हुए स्त्री-पुरुष की प्रकृति प्रदत्त पारस्परिकता एवं समरसता को रेखांकित करती हैं। इस क्रम में वे बेटी, बहन, पत्नी, बहू, भाभी, माँ आदि के विभिन्न रूपों में मानवीय सम्बन्धों से लेकर पशु-पक्षी,

फूल-पौधे, आदि समस्त मनुष्येतर जीवों से सीता की गहरी संशक्ति का चित्र प्रस्तुत कर उन्हें 'जगत-जननी' होने की सार्थकता प्रदान करती हैं।

रामकथा की आवृत्तिमूलक कृति होने के बावजूद इसकी एक अन्य विशिष्टता इस बात में प्रकट होती है कि रामकथा को जहाँ बहुतांश ने पुरुष-वर्चस्व स्थापित करने की कथा कहने का 'फैशन' चला रखा है, वहाँ मृदुला सिन्हा इसे नर-नारी-समता स्थापित करने वाली कथा सिद्ध करती हैं। अमूमन रामकथा के आलोचकों का ध्यान अयोध्या पर ही केन्द्रित होकर रह जाता है, किन्तु अन्तर्निहित तथ्य है कि अयोध्या और जनकपुर इस कथा के दो तटबन्ध हैं जिनके बीच स्त्री-पुरुष के समान होने की भावधारा प्रवाहमान है। अयोध्या-नरेश को चार पुत्र हैं, तो मिथिला-नरेश को चार पुत्रियाँ। अयोध्या में राजकुमारों को माता-पिता का जितना लाड़-प्यार सुलभ है, उतना ही लाड़-प्यार मिथिला में चारों राजकुमारियों को सुलभ है। राजा दशरथ को जितनी चिन्ता पुत्र राम की है, उससे तनिक भी कम चिन्ता राजा जनक को पुत्री सीता की नहीं है। इस प्रकार अवधपुरी एवं जनकपुरी को पुत्र-पुत्री, या स्त्री-पुरुष को समान महत्त्व देनेवाले एक सिक्के के दो पहलू के रूप दिखाकर लेखिका ने ओझल तथ्य का अभिज्ञान कराया है।

इस उपन्यास का अन्त भवभूति के 'उत्तर रामचरित' या तुलसी के 'मानस' की तर्ज पर न होकर वाल्मीकि रामायण की तर्ज पर होता हैयानी अन्ततः धरती से निकली सीता धरती में प्रविष्ट कर जाती हैं। इस प्रसंग को छोड़ा जा सकता था जैसा कि तुलसी ने 'मानस' में किया था। फिर भी यह चित्र एक अन्य दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। धरती में सीता के प्रवेश करने के उपरान्त सीता के लिए राम की विकलता, उद्विग्नता आदि को जिस रूप में दर्शाया गया है वह पत्नी-प्रेम की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व का है। आज के स्त्रीवादी राम पर पत्नी को निर्वासित करने का लांछन लगाते हैं, किन्तु वे खुद सत्तर पार की उम्र में देह-सुख खातिर पत्नियों को घर छोड़ने पर विवश कर देते हैं जबकि राम ने अत्यन्त दुखित मन से लोकमत के सम्मान हेतु यह अप्रिय काम किया था। राम किस तरह सीता के वियोग में दहकते रहे, इसका बड़ा ही मार्मिक चित्रण भवभूति ने किया है। 'सीता पुनि बोली' भी उसकी याद ताजा कर देती है।

वैसे इस उपन्यास में पूरी कथा सीता खुद कहती हैं और उनके इस आत्म-वक्तव्य का मुख्य आधार वाल्मीकि रामायण एवं तुलसी के 'मानस' से प्राप्त सामग्रियाँ हैं। इसके अतिरिक्त लोकगीतों का भी काफी उपयोग सीता के चरित्र-विन्यास में किया गया है। कहा जा सकता है कि सीता की यह खोज न सिर्फ लिखित काव्य ग्रन्थों के आधार पर, बल्कि जनश्रुतियों, लोकगीतों को भी आधार बनाकर कही गई है जिससे उसमें दैवी एवं आध्यात्मिक की तुलना में लौकिक जीवन के रंग अधिक मुखर हो उठे हैं।

इन सारी सामग्रियों के आधार पर 'सीता पुनि बोली' के रूप में मृदुला सिन्हा ने एक ऐसी सीता की खोज की है जिसका व्यक्तित्व स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति, स्वविवेक से निर्णय लेने की क्षमता एवं साहस, व्यापक संवेदना, रागात्मक लगाव, शील एवं शिष्टता आदि का पुंज है। इन सारे गुणों का प्रकाश सीता द्वारा बेटी, पत्नी, बहू, भाभी, माँ के रूपों में पारिवारिक-सामाजिक दायित्वों का सम्यक निर्वाह करने में प्रस्फुटित होते दिखाई पड़ता है। निश्चय ही ऐसी सीता उन समस्त स्त्रीवादियों को रास नहीं आ सकती जिन्होंने बहन, पत्नी, माँ आदि के रूपों में स्त्री के दायित्वों को नकार कर केवल 'देह भोगने' को ही मुक्ति का पर्याय समझ रखा है। निस्सन्देह 'सीता पुनि बोली' यौनवादियों के गढ़ पर लेखिका द्वारा दागा गया एक सशक्त 'मिसाइल' है जिसके लिए वह साधुवाद की हकदार हैं।

पाठकीय प्रतिक्रिया

यह सर्वविदित है, इसमें सन्देह की सम्भावना भी नहीं कि चन्द्रमा के प्रकाशित होने से वनस्पतियों में रसों का संचार होता है, चराचर सब उससे प्रभावित होते हैं। यदि वह मानव की किन्हीं गतिविधियों का कारक है तो समुद्र के ज्वार-भाटे का भी, जबकि उसका प्रकाश अपना नहीं, वह सूर्य की ऊर्जा को सार्थकताप्रदान करता है। यह सोचते ही बनता है, इस प्रकार की कैसी शक्ति उसे किसी और से प्राप्त होती है?

ऋग्वेद का कथन प्रचारित है, 'वस्त्रेव भद्रा सुकृता'। मैं अपना यह स्तोत्र सुन्दर हाथों से बने हुए वस्त्र की तरह ईश्वर को पहनाता हूँ। विनोबा जी कहते हैं, यह पढ़ कर कबीर झूम उठता है: 'झीनी झीनी बीनी चदरिया।' वैदिक कवि स्तोत्र लिखता नहीं बुनता है ईश्वर के लिए और उससे जो वस्त्र बनता है वह भी ईश्वर को पहनाने के लिए। कैसी दिव्य कल्पना है! आप इसी से अनुमान लगाएं, महान विद्वान संत कवि रामानन्द के शिष्य कबीर जो उससे प्रभावित हुए कोई साधारण व्यक्ति नहीं रहे और न थे। कहने को आप इसके आधार पर उन्हें दलित जुलाहा अनपढ़ कुछ भी कह सकते हैं।

मन में बना दिये गए विद्वानों के द्वारा जन-साधारण के, उनके परिचय को मैं मिटा नहीं रहा हूँ। मैं केवल तथ्यों से परिचित करवा रहा हूँ। चन्द्र की चांदनी में शीतलता होती है और मौन में शांति। चन्द्र की चांदनी तो ठीक है; किन्तु मौन? उस मौन में हास्य है और ऊष्मा भी है जो स्वनामधन्य समीक्षकों को सचेत करती है। आम जनता तो बस, कबीर के बारे में इतना ही जानती है कि देखो! साधारण कुल में पैदा हुआ कठिन परिस्थितियों में जिया व्यक्ति वेद-पुराणों के सार को कितने सरल और सहज शब्दों में व्यक्त कर देता है!

मैंने 'चिन्तन-सृजन' के अंक अप्रैल-जून, 2008 के पुस्तक-सीमक्षा के अंतर्गत डॉ. प्रज्ञाचक्षु की पुस्तक 'न बांटिए कबीर को' की समीक्षा पढ़ी। आम आदमी शायद ही कभी ऐसी पुस्तकों में लिखीं बातों को महत्त्व दे। ये बड़ों की बातें हैं, बड़ों तक ही सीमित रहेगी। 'न बांटिए कबीर को' पुस्तक की समीक्षा पढ़ कर इतना अवश्य लगता है कि कबीर के नाम पर आरोपित मानव-धर्म हिन्दू समाज का एक और विभाजन कर सकता है। साथ के लिए डॉ अम्बेदकर और माहात्मा फुले जैसे

पलायनवादी विद्वानों को लिया गया है। वस्तुतः वे हिन्दू समाज में आर्यी न्युनताओं और दुर्बलताओं को दूर न कर सके। उन्होंने सनातन-धर्म के प्रति अपना कोई कर्तव्य नहीं समझा। फिर, उनसे और क्या उमीद की जा सकती है?

**डॉ. केशिकान्त, क्यू-25, पंजाबी विश्वविद्यालय परिसर,
पटियाला-147002।**

अप्रैल-जून 2008 का 'चिन्तन-सृजन' पाया। अच्छा लगा। क्यों लगा? कारण कई हैं: हिन्दी में जो भी पत्रिकाएँ पाठकों तक पहुँचती हैं, या तो वे बड़े घरानों या बड़े संस्थानों की हैं। उनके पास पुराने, नए और स्वर्गीय लेखक तक इसलिए उपलब्ध हैं कि कुछ विचारधारा से छपते हैं, कुछ विचार-चिन्तन से और कुछ तरह-तरह के सम्पर्कों से। अच्छे लेखक भी उन्हें मिल जाते हैं क्योंकि अच्छे लेखकों के मानस के अनुरूप अच्छी पत्रिकाओं का लगभग अभाव सा है। ऐसे में 'चिन्तन-सृजन' और 'उन्मीलन' ये दो गंभीर ऐसी पत्रिकाएँ हैं जिनसे हिन्दी की एक विचारशील पाठक पीढ़ी संस्कारित होती है और अध्ययन-विमुख या शोध-विमुख वर्तमान हिन्दी परिदृश्य ऐसे प्रयत्नों से परिवर्तित होते हैं। कई बार 'चिन्तन-सृजन' में भारत की मूल्य प्रज्ञा और मेधा के दर्शन उसी प्रकार होते हैं जिस प्रकार 'उन्मीलन' में हमारे तत्व-शास्त्र और हमारी परा-चेतना या आध्यात्मिक और कलात्मक निस्संगता के। 'चिन्तन-सृजन' को जाना चाहिए विश्वविद्यालयों के हिन्दी विभागों में ताकि पाठ्यक्रमों की ऊँच और जड़ता से बँधे प्राध्यापक चिन्तन और सृजन की नई भूमि का उत्खनन कर सकें।

**- रमेश दवे, से.नि. प्रोफेसर एवं पूर्व युनिसेफ प्राध्यापक सलाहकार,
एस. एच. 19, ब्लॉक-8, सहयाद्रि परिसर, भद्रभदा रोड, भोपाल।**

'चिन्तन-सृजन' अप्रैल-जून 2008 अंक 4 प्राप्त हुआ। पढ़कर अत्यंत प्रसन्नता हुई। सारे लेख पठनीय व चिंतनीय हैं। आज राष्ट्रीय चिंतन, व अस्मिता खतरे में है। राजनीतिक उठा-पटक, खरीद-फरोख्त व तुष्टीकरण हम देख ही रहे हैं। पत्र-पत्रिकाएँ भी अपनी भूमिका नहीं निभा रही। एलेक्ट्रानिक मीडिया तो बस ग्लेमर के चक्कर में फिल्मों, क्रिकेटों, टी. वी. सीरियलों, व मसखरों के इर्द गिर्द घूम रहा है। युवा पीढ़ी कुछ भी पढ़ने सुनने को तैयार नहीं। ऐसे में आपकी पत्रिका एक आशा की किरण है। **डॉ. किशोरी लाल व्यास, हैदराबाद।**

आपकी पत्रिका बराबर समय से मिल रही है। सर्वप्रथम आपको स्तरीय प्रकाशन के लिए बधाई। यह पत्रिका अपने नाम के अनुरूप 'चिन्तन-सृजन' को पुरजोर उकसाती है। पारंपरिक आस्था के संग-संग सामयिक राजद्वनीतिक और वैचारिक साजिशों को भी उधाड़ती चलती है। इस संदर्भ में आपका 'सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य' बहुत चिंतनीय मुद्दों को सामने लाता है। प्रो रमेशचन्द्र शाह ने ठीक ही

लिखा है - “कितने लोग जानने और इस जानने का निहितार्थ समझते हैं कि नेपाली प्रचंड के निर्माण में जे.एन.यू. का योगदान है या मणिपुर में अलगाववाद का आरंभ कम्युनिस्ट हिजम इरावत सिंह ने किया था।” वस्तुतः ये वामधर्मी सही मायने में अधर्मी है द्रोही किस्म के अधर्मी, चीन-रूस के मानसपुत्र। खाते हैं देश के गाते हैं विदेश के। नक्सलवाद उन्हीं की मानसी सृष्टि है। भगवान उन्हें सुमति प्रदान करें। वे दल से ऊपर उठकर देश के लिए जरा सोचें। शिक्षा की चिंतनीय दशा पर आपने सही जगह उँगली रखी है। वस्तुतः आज की शिक्षा सूचनात्मक है, मूल्यपरक कतई नहीं, जबकि मूल्यपरकता शिक्षा का केन्द्रस्थ बीज है। यह बीज शिक्षा शब्द में ही निहित है। वह आज शिक्षा से गायब है। ‘लावदेश में रामायण की कथा राम और भारतीय संस्कृति की व्यापकता की कथा है। श्री शंकर पुणतांबेकर का आलेख ‘कला’ बहुत ही उल्लेखनीय है। लेखक का यह समापन वाक्य “पर आज स्थिति यह है कि धर्म गरीबों का तथा विज्ञान अमीरों का बना हुआ है और कला मात्र बुद्धिजीवियों की” हम सब को सोचने के लिए और विडम्बनापूर्ण स्थिति से उबरने के लिए संदेश देता है। एक से एक विचारपूर्ण आलेख वस्तुतः पत्रिका को पठनीय-संग्रहनीय बनाते हैं। आप को पुनश्च साधुवाद।

- **आचार्य डॉ. शोभाकान्त झा, संयोजक, छत्तीसगढ़ प्रदेश आचार्यकुल, संतोषी चौक, कुशालपुर, रायपुर (छ. ग.)**

सदैव की भाँति आपके सचेतक संपादकीय युक्त; जिसमें आपने शिक्षा से संबंधित भ्रम पार सटीक टिप्पणी की है, चिन्तन-सृजन का अप्रैल-जून 2008 अंक प्राप्त हुआ। लाव देश पर स्व. रघुवीर का रामायण संबद्ध अग्रलेख, ऋग्वेद में वर्णित नदियाँ तथा प्राचीन भारत में ध्वज, अतीव सूचनाप्रद लगे। आधुनिक भारत के परिपेक्ष्य में डॉ. शत्रुघ्न प्रसाद का लेख वाम-इस्लाम जुगलबंदी उपन्यास में, मात्र अक्षरों तक ही सीमित नहीं है - उनकी मानसिकता देश को विखण्डित करने और उसकी सभ्यता-संस्कृति को नष्ट करने के अथक प्रयास में आज सब को दिखाई पड़ रही है। अक्षरशरभ और हिंसा का स्वरूप धारण चुके हैं। डॉ. विष्णु दत्त शर्मा के संग्रह “हिन्दी में वैज्ञानिक नाटक” की सुन्दर-प्रभावी समीक्षा पढ़कर हर्ष, इस कारण हुआ कि आपने पत्रिका में विज्ञान साहित्य के विषय में चर्चा का शंखनाद किया है। साधुवाद।

- **डॉ. राजीव रंजन उपाध्याय, सम्पादक, विज्ञान कथा; अध्यक्ष, भारतीय विज्ञान कथा लेखक समिति, फैजाबाद (उ. प्र.)**

प्राप्ति-स्वीकार

पिछले अंकों में सूचीबद्ध पुस्तकों/पत्रिकाओं के अतिरिक्त प्राप्त नयी पुस्तकें/पत्रिकाएँ

पुस्तकें

सत्याग्रह की संस्कृति, संपादक : नन्दकिशोर आचार्य, प्रकाशक : वाग्देवी प्रकाशन, विनायक शिखर पॉलिटेक्निक कॉलेज के पास, बीकानेर-334003, प्रथम संस्करण : 2008 ई., पृष्ठ : 144, मूल्य : एक सौ साठ रुपये मात्र।

संगत में संवाद : राजी सेठ से रमेश दवे की बातचीत, प्रकाशक : संवेद फाउंडेशन दिल्ली, बी-3/44, तीसरी मंजिल, सेक्टर-16, रोहिणी, दिल्ली-110 089. प्रथम संस्करण : 2008, पृष्ठ : 64, मूल्य : 20/- रुपये।

प्रतिनिधि लघु कथाएं : (लघुकथा संकलन) संपादक : डॉ. तारिक असलम ‘तस्लीम’, प्रकाशक : लेखनी प्रकाशन, 6/2, हारून नगर कालोनी, फुलवारी शरीफ, पटना, प्रथम संस्करण : 2006 ई., पृष्ठ : 78, मूल्य : 100 रु. सजिल्द, 80 रु. पेपरबैक।

पत्रिकाएँ

विज्ञान-कथा : त्रैमासिक, हिन्दी की प्रथम विज्ञान-कथा पत्रिका, संपादक : राजीव रंजन उपाध्याय, प्रकाशक, सम्पादक एवं मुद्रक : डॉ. राजीव रंजन उपाध्याय, द्वारा भारतीय विज्ञान कथा लेखक समिति, फैजाबाद 224 001 के लिए मुद्रित एवं प्रकाशित, वर्ष : 6 अंक : 24 जून-अगस्त 2008, पृष्ठ : 32, मूल्य : 15 रुपए।

व्यंग्य यात्रा : सार्थक व्यंग्य की रचनात्मक त्रैमासिकी, वर्ष : 3 अंक : 15-16, अप्रैल-सितंबर 2008, संपादक : प्रेम जनमेजय, स्वत्वाधिकारी, मुद्रक एवं प्रकाशक : डॉ. प्रेम प्रकाश, 73, साक्षर अपार्टमेंट्स, ए-3, पश्चिम विहार, नई दिल्ली-110063, पृष्ठ : 104, मूल्य : 20 रुपए।

परती पलार : (एक सम्पूर्ण सृजनात्मक एवं शोधपरक हिन्दी त्रैमासिक), वर्ष : 04, अंक : 03, प्रेमचंद स्मृति कथा विशेषांक, जुलाई-सितम्बर 2008, संपादक : नमिता सिंह; मुद्रक, प्रकाशक, प्रबन्धक एवं सर्वाधिकारसृजनात्मक साहित्यिक सामाजिक एवं सांस्कृतिक वाग्वैचित्र्य मंच, आश्रम रोड, वार्ड नं. 8, अररिया-854311 (बिहार), पृष्ठ : 168, मूल्य : 30 रुपए।

सरयू धारा : (सर्जनात्मक साहित्य की अभिनव धारा) प्रेमचंद अंक, अंक 25, 2007, प्रकाशक व प्रधान संपादक : डॉ. शैलेन्द्र कुमार त्रिपाठी, हिन्दी भवन, विश्वभारती शांति निकेतन-731235, पृष्ठ : 210, मूल्य : 40 रुपए।

लोक-मंगल साहित्य, अंक-3, वर्ष-2008, संपादक : डॉ. शोभाकान्त झा, प्रकाशक : सुमित्रा प्रकाशन, संतोषी चौक, कुशालपुर, रायपुर (छत्तीसगढ़)। पृष्ठ : 40, मूल्य : 20 रुपए।

चिन्तन-सृजन का स्वामित्व सम्बन्धी विवरण

फार्म 4

नियम 8

1. प्रकाशन स्थान : दिल्ली
2. प्रकाशन अवधि : त्रैमासिक
3. स्वामी : आस्था भारती, नई दिल्ली
4. मुद्रक : डॉ. बी. बी. कुमार
सचिव, आस्था भारती
(क्या भारती के निवासी हैं?) : हाँ, भारतीय
पता : 27/201, ईस्ट एण्ड अपार्टमेण्ट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110096
5. प्रकाशक : डॉ. बी. बी. कुमार
सचिव, आस्था भारती
(क्या भारती के निवासी हैं?) : हाँ, भारतीय
पता : 27/201, ईस्ट एण्ड अपार्टमेण्ट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110096
6. सम्पादक : डॉ. बी. बी. कुमार
सचिव, आस्था भारती
(क्या भारती के निवासी हैं?) : हाँ, भारतीय
पता : 27/201, ईस्ट एण्ड अपार्टमेण्ट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110096

मैं डॉ. बी. बी. कुमार घोषित करता हूँ कि उपर्युक्त विवरण मेरी जानकारी
और विश्वास के अनुसार सही है।

(ह.) डॉ. बी. बी. कुमार

16.9.2008

प्रकाशक

*We Strive
to Satisfy
Our Customers*

VASUNDHARA MARKETING CO.

Sales Tax No. LC/13/017261/1080

☎ 3277883 (Off.)

Regd. Office

**1/3575, Netaji Subhash Marg
Darya Ganj, New Delhi-110002**

With Best Compliments

from

VASUNDHARA IMPEX (P) LTD.

Administrative Office

LG-69, World Trade Centre,
Babar Lane, New Delhi-110001

Regd. Office

1/3575, Netaji Subhash Marg, Darya Ganj,
New Delhi-110002 Phone Off. 3277883, 3711848